

# भविष्य से खिलवाड़

भारत में छोटे बच्चों की स्थिति – संक्षिप्त रिपोर्ट

फोरम फॉर केश एंड चाइल्ड केयर सर्विसेज

## भविष्य से खिलवाड़

फोर्सेज का राष्ट्रीय सचिवालय वर्तमान में नई दिल्ली के सेंटर फॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज में स्थित है।

इस संक्षिप्त रिपोर्ट को ऑसऐड व प्लान इंडिया का सहयोग प्राप्त है।

फोर्सेज (फोरम फॉर क्रेश एंड चाइल्ड केयर सर्विसेज)

पता: द्वारा सेंटर फॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज,  
25, भाई वीर सिंह मार्ग, गोल मार्केट  
नई दिल्ली - 110 001

ई-मेल: forces.forces@gmail.com  
www.forces.org.in

टेलीफोन: 91-11-23346930  
91-11-23365541

फैक्स: 91-11-23346044

पहला संस्करण, 2009

©कॉपीराइट: यह प्रकाशित सामग्री किसी भी रूप में प्रयोग में लाई जा सकती है। इसके उद्धरण, अनुवाद, वितरण और विस्तार के लिए आप स्वतंत्र हैं। कृपया सामग्री का आभार व्यक्त करें।



कवर डिजाइन और लेआउट: जो अतियली

कवर फोटो: स्टेडमैन हैरिसन

एशियाड प्रेस, 252-ए, शाहपुरजट, नई दिल्ली-110049 द्वारा फोर्सेज के लिए मुद्रित

## लेखकों की सूची

**जॉर्ज, साबू, फेलो,** इंटरकल्चरल रिसोर्सेज, नई दिल्ली; बाल अधिकार कार्यकर्ता।

**जॉन, डेनी,** इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक हेल्थ (आईपीएच), बंगलुरु, जन आरोग्य अभियान, महाराष्ट्र; स्वास्थ्य सेवा प्रबंधन और सामुदायिक स्वास्थ्य में विशेषज्ञ।

**नीता, एन,** फेलो, सेंटर फॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज, नई दिल्ली।

**रे, सावित्री,** फेलो, सेंटर फॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज, नई दिल्ली, राष्ट्रीय समन्वयक, फोर्सेज नेटवर्क।

**शिवा, मीरा,** फिजीशियन (एमडी, मेडिसन, क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज, लुधियाना), स्वास्थ्य के मुद्दों पर काम कर रहे हैं। फोर्सेज, भोजन का अधिकार अभियान और डॉक्टर्स फॉर फूड एंड बायोसेफ्टी की स्टियरिंग कमेटी की सदस्य हैं।

**सिंह, आशा,** दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी इर्विन कॉलेज में मानव विकास व शैशव अध्ययन विभाग में फ़ैकल्टी हैं।

**सूद, नीलम,** प्रोफेसर, समावेशी शिक्षा विभाग, न्यूपा, नई दिल्ली, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक कोऑपरेशन एंड चाइल्ड डेवलपमेंट।

**सुजया, सी.पी.,** (सेवानिवृत्त आईएस), सेंटर फॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज की कार्यकारी समिति के सदस्य; पूर्व सचिव, महिला और बाल विकास विभाग, भारत सरकार। संयुक्त सचिव, नेशनल कमीशन फॉर शिड्यूल्ड ट्राइब्स एंड शिड्यूल्ड कास्ट्स, अतिरिक्त मुख्य सचिव (स्वास्थ्य)।

## विषय तालिका

1. आभार
2. आमुख  
-सावित्री रे 1
3. परिचय  
-इंद्राणी मजूमदार, वासंती रमन और सावित्री रे 3
4. बच्चों के लिए भारत सरकार के कार्यक्रमों और नीतियों की एक समीक्षा  
-सी.पी. सुजया 9
5. कन्या शिशु की नियति: होने और न होने के बीच  
क. भाग 1 - सावित्री रे 22  
ख. भाग 2 - साबू जॉर्ज 26
6. बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण अधिकार  
-मीरा शिवा 33
7. बदलते समाजार्थिक और राजनीतिक परिदृश्य में बाल सेवाओं पर पुनर्विचार  
-नीता एन. 44
8. भारत में शैशवावस्था में देखभाल और शिक्षा की स्थिति  
-आशा सिंह और नीलम सूद 52
9. सार्वजनिक व्यय, बजट और छह साल तक के बच्चे  
-डेनी जॉन 58

## आभार

करीब दो साल की अवधि के दौरान फोर्सेज के काम में कई संगठनों और मददगार साथियों का सहयोग प्राप्त हुआ है। हमारी गतिविधियों को प्लान इंडिया ने अनुदानित किया। निराली मेहता और श्रुति मिश्रा को हमारा विशेष धन्यवाद जिनका सहयोग प्रोजेक्ट को अनुदान देने से भी ज्यादा व्यापक रहा। सेंटर फॉर विमेंस डेवलपमेंट स्टडीज को भी धन्यवाद जिन्होंने अप्रैल 2007 से सचिवालय के लिए जगह मुहैया कराई तथा डॉ. कुमुद शर्मा, डॉ. मेरी जॉन और डॉ. इंदु अग्निहोत्री को उनके सहयोग, बहुमूल्य सुझावों व सांगठनिक मदद के लिए विशेष धन्यवाद। लखनऊ, रांची और चेन्नई में क्षेत्रीय परामर्श का आयोजन करने के लिए संदीप खरे और रामायण यादव (उत्तर प्रदेश फोर्सेज), मुख्तार उल हक (झारखंड फोर्सेज) और डॉ. के.एस. वेलायुथम (तमिलनाडु फोर्सेज) को भी धन्यवाद। साथ ही बच्चों के मुद्दे पर पूर्वोत्तर में फोर्सेज परामर्श का आयोजन करने के लिए सोमा भौमिक और बिस्वजीत चक्रवर्ती का भी आभार। फोर्सेज अपने राज्यों की इकाइयों, भागीदारों और व्यक्तिगत सहयोगकर्ताओं को भी धन्यवाद देना चाहेगा।

हमारे परचे के लेखकों के उल्लेख के बगैर आभार अधूरा रहेगा, जिन्होंने विशिष्ट अध्यायों के लेखन के लिए अपनी मंजूरी दी। हम उन सभी को इस प्रयास में सक्रिय होने और संलग्न रहने के लिए धन्यवाद देते हैं। इंटरकल्चरल रिसोर्सेज के वसुंधरा जेरथ और रोहन मैथ्यूज द्वारा दिए गए संपादकीय सहयोग का भी हम आभार प्रकट करते हैं और सराहना करते हैं।

प्रारंभिक बाल देखरेख एवं विकास का क्षेत्र (ईसीसीडी) और उसके महत्व को आम तौर पर नीतिगत परिचर्चाओं और विश्लेषणों में लगातार उपेक्षित किया जाता रहा है। हाल ही में यह क्षेत्र कुछ प्रकाश में आया है।

इस रिपोर्ट के लिए जिन विषयों को चुना गया, उनमें प्रमुख हैं - नीतियों और कार्यक्रमों की समीक्षा, संसाधनों का आवंटन, शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषण, देखभाल सेवाएं और कन्या शिशु की स्थिति।

## आमुख

फोर्सेज (फोरम फॉर क्रेश एंड चाइल्ड केयर सर्विसेज) ने 2009 में बच्चों और माताओं के अधिकारों की निरंतर वकालत के अपने संघर्ष के दो दशक पूरे किए। असंगठित क्षेत्र में बाल देखरेख पर केन्द्रित यह एक राष्ट्रीय संगठनों का नेटवर्क है जिसे 1988 की श्रम शक्ति रिपोर्ट के आलोक में 1989 में गठित किया गया था।

दिसंबर 2007 से लेकर अब तक फोर्सेज ने बाल अधिकारों के घोषणापत्र पर संयुक्त राष्ट्र की समिति को दी जानी वाली वैकल्पिक नागरिक रिपोर्ट को तैयार करने में सक्रिय भागीदारी निभाई है। फोर्सेज ने इस अवसर का इस्तेमाल कर पैरोकारी के उद्देश्यों के लिए बच्चों की स्थिति पर भी एक रिपोर्ट तैयार की है।

फोर्सेज ने क्षेत्रीय स्तर पर चार परामर्श आयोजित किए हैं। ये परामर्श देश के उत्तरी, पूर्वी, दक्षिणी और पूर्वोत्तर के हिस्सों में किए गए। दक्षिणी राज्यों ने जहां अच्छा प्रदर्शन किया है, वहीं उत्तरी, पूर्वी और पूर्वोत्तर राज्यों ने चिंताजनक रुझान दिखाए हैं।

हमारा सारा काम देश के विकास के एक ऐसे निर्णायक चरण में हो रहा था जब राज्य ने लोगों के कल्याण के लिए अपने कई प्रावधानों को नीतिगत बदलावों के चलते वापस ले लिया था। विशिष्ट तौर पर राज्य ने सामाजिक क्षेत्र पर व्यय को कम करने का फैसला किया था ताकि ज्यादा से ज्यादा निजी खिलाड़ियों को शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में आमंत्रित किया जा सके। इसका असर समाज के अरक्षित तबकों पर सबसे ज्यादा पड़ा। यह राष्ट्रीय परिवार और स्वास्थ्य सर्वेक्षण के तीसरे चरण के

2005-06 के आंकड़ों में साफ दिखाई पड़ता है जो बच्चों के स्वास्थ्य से सम्बद्ध है। तमाम सरकारें शिक्षा पर जीडीपी का छह फीसदी प्रस्तावित व्यय करने में विफल रही हैं और स्वास्थ्य के मामले में तो उनका रिकॉर्ड बेहद खराब रहा है।

हमारा देश 2015 तक एमडीजी को हासिल नहीं कर पाएगा और एचडीआई के मामले में हमारा प्रदर्शन आर्थिक रूप से कमजोर तमाम अन्य देशों के मुकाबले भी बहुत खराब है। देश में कृषि और वित्तीय क्षेत्र जब संकट से गुजर रहा हो, तो सरकार से उम्मीदें बढ़ जाती हैं। भले ही, पूर्व के बजट आवंटनों में सरकार ने कुछ स्वागत योग्य कदम उठाए हैं, लेकिन फोर्सेज जैसे नेटवर्कों की भूमिका यह सुनिश्चित करने की है कि सारी कवायद सिर्फ बजटीय आवंटन तक सीमित न रह जाए, बल्कि जमीनी स्तर पर ठोस कदमों के रूप में तब्दील हो सके।

अकेले सरकार के जिम्मे ही सारी समस्याएं नहीं डाली जा सकती हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक दिक्कतें भी इस राह में हैं - जैसे लड़के को प्राथमिकता, जाति के सामंती ढांचे का चलन तथा व्यावसायिकता के विनाशक प्रभाव आदि।

इन परामर्शों ने ईसीसीडी से जुड़ी समस्याओं के समाधानों पर भी प्रकाश डाला। रचनात्मक सुझावों ने

आईसीडीएस समेत अन्य योजनाओं को राष्ट्रीय स्तर पर मजबूत करने की एक सहमति बना डाली।

छोटे बच्चों की स्थिति पर यह रिपोर्ट ईसीसीडी के मुद्दे के महत्व को प्रकाशित करने का उद्देश्य रखती है ताकि यह मुद्दा नीतिगत विश्लेषणों में एक निर्णायक पहलू रहे जिससे भारत में छोटे बच्चों की स्थिति में सुधार आ सके।

**सावित्री रे**  
राष्ट्रीय समन्वयक, फोर्सेज

कुशलता सम्बन्धी तमाम गतिविधियों के समेकन की बात करती है।

कार्यसमूह की कुछ बाध्यकारी सिफारिशों में आईसीडीएस और पोषण, प्रारंभिक बाल्यकाल शिक्षा, बाल संरक्षण और कन्या शिशु हैं। यह दस्तावेज उम्र के हिसाब से लक्षित हस्तक्षेप की मांग करता है।

पहली आवधिक रिपोर्ट के निष्कर्ष में बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र की समिति ने सामाजिक सेवाओं को आवंटित किए जाने वाले सरकारी अनुदान में आई कमी तथा निशुल्क और उच्च गुणवत्ता वाले प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं की अनुपलब्धता/दुर्गमता, शिशु मृत्यु दर में धीमी गिरावट, मातृ मृत्यु दर में तेजी, टीकाकरण की दर में कमी, कम वजन वाले बच्चों के जन्म की अधिकता, बौने बच्चों की बढ़ती संख्या, पोषक तत्वों के अभाव और सिर्फ स्तनपान कराने की निम्न दर पर अपनी चिंताएं व्यक्त की थीं।

जिन्हें विकास की प्रक्रिया में शामिल किया गया है, वे तो लाभ उठा रहे हैं जबकि बाकी की हालत और बदतर हो रही है। बच्चे निर्णायक रूप से प्रभावित इन समूहों में एक हैं, खासकर सबसे ज्यादा अरक्षित 0-6 वर्ष के बच्चे, जहां सारा फर्क समयबद्ध और प्रभावी हस्तक्षेप से ही पड़ता है। इसीलिए, इस आयु वर्ग के बच्चों की स्थिति की समीक्षा शुरू करने के लिए यह उपयोगी होगा कि हम यह देखें कि कैसे यूपीए सरकार द्वारा मई

## परिचय

फोर्सेज यह मानते हुए कि बहुत छोटे बच्चों पर अपना काम केन्द्रित करता है कि किसी बच्चे के विकास क्रम में यही उम्र सबसे निर्णायक होती है जिसमें विशेष ध्यान देने की जरूरत पड़ती है। इस दृष्टिकोण में यह समग्रता निहित है कि छोटे बच्चों की परिस्थिति और नियति समूचे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास से तय होती है और उसकी स्थिति के किसी भी आकलन का अपरिहार्य हिस्सा माता और परिवार की परिस्थिति होती है।

11वीं पंचवर्षीय योजना (2007-12) के लिए बच्चों के विकास पर कार्यसमूह की रिपोर्ट भी अलगाववादी नजरियों के खिलाफ एक समग्र पक्षधारता बरतते हुए अस्तित्व, विकास, संरक्षण और भागीदारी से जुड़ी बच्चों की



2004 में अपनाए गए न्यूनतम साझा कार्यक्रम में ऐसे कुछ निर्णायक मुद्दों को संबोधित किया गया था तथा इन्हें पूरा करने की वचनबद्धता को लेकर सरकार का रिकॉर्ड क्या है?

### सीएमपी रिकॉर्ड की समीक्षा

छोटे बच्चों को प्रत्यक्ष और विशिष्ट वचनबद्धता के तहत सीएमपी ने आईसीडीएस के अंतर्गत सार्विक कवरेज की बात कही थी। बहुत छोटे बच्चों को छोड़ दें, तो एक बड़े आयु वर्ग को संबोधित करते हुए सीएमपी ने मध्याह्न भोजन योजना का वादा किया। सीएमपी सार्विक बुनियादी शिक्षा पर वचनबद्ध था और शिक्षा पर जीडीपी का छह फीसदी सार्वजनिक व्यय - जिसमें से आधा आवंटन प्राथमिक और माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में किया जाना था - का वादा किया गया था। स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में अगले पांच साल के दौरान जीडीपी के दो से तीन फीसदी कम से कम सार्वजनिक व्यय की बात की गई थी जिसमें प्रमुख जोर स्वास्थ्य सेवा, संचारी रोगों, दवाओं की किफायती दामों पर उपलब्धता और निर्धनतम तबकों पर विशेष ध्यान शामिल था।

सीएमपी ने खाद्य और पोषण सुरक्षा को लेकर एक समग्र मध्यमकालिक रणनीति और एक दीर्घकालिक सार्विक खाद्य सुरक्षा के प्रति सरकार को जिम्मेदार ठहराया था, लेकिन इसमें एक शर्त थी, 'यदि यह व्यावहारिक हुआ'। इसमें वादा किया

गया था कि देश के गरीब और पिछड़े ब्लॉकों में जन वितरण प्रणाली को मजबूत किया जाएगा और पोषण कार्यक्रमों को खासकर कन्या शिशु के लिए पर्याप्त स्तर पर विस्तारित किया जाएगा। अन्य वचनबद्धताओं में बाल अधिकारों का संरक्षण, बाल श्रम के उन्मूलन का प्रयास, कन्या शिशु की विशेष देखभाल का विस्तार शामिल था। इसके अलावा यह भी वचन दिया गया था कि यह सुनिश्चित किया जाएगा कि पंचायतों के लिए तय अनुदानों का कम से कम एक-तिहाई महिला और बाल विकास से जुड़े कार्यक्रमों के लिए हो।

लेकिन, छोटे बच्चों को दी गई कम प्राथमिकता इसी तथ्य से उजागर हो जाती है कि 2006-07 के दौरान सिर्फ 1.66 फीसदी केन्द्रीय बजट ही छह साल से कम उम्र के बच्चों के लिए आवंटित किया गया।

इस तरह भारत में एक ओर बच्चों समेत हाशिए पर पड़े लोगों के अधिकारों व हितों के लिए किए गए वादों तथा दूसरी ओर उदारीकरण व वैश्वीकरण की नीतियों को जारी रखने और बढ़ावा देने के बीच एक आंतरिक अंतर्विरोध की मिली-जुली तस्वीर हमारे सामने आती है। नीतिगत वचनबद्धताओं को अब भी पर्याप्त आवंटन और व्यय की दरकार है।

इस मामले में एक उदाहरण आईसीडीएस पर सरकार की

विफलता है। छोटे बच्चों की देखभाल व विकास के लिए यह इकलौता सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम है, लेकिन अब भी इसे सार्विक करने से हम बहुत पीछे हैं।

एनएफएचएस 3 (2005-06) साफ दिखाता है कि देश भर में बच्चों के पोषण स्तर में गिरावट आई है। 1998-99 और 2005-06 के बीच तीन साल से कम उम्र के रुग्ण बच्चों की दर 15.5 से 19.1 फीसदी हो गई जबकि छह से 35 महीने के बीच की उम्र वाले एनेमिक बच्चों यानी खून की कमी वाले बच्चों की संख्या 74.2 फीसदी से बढ़ कर 79.2 फीसदी हो गई।

बच्चों के लिए बजटीय आवंटन में इस बीच कुछ बढ़ोतरी दिखाई दी है - 2003-04 के केन्द्रीय बजट में 2.2 फीसदी से बढ़ कर 2008-09 में 5.35 फीसदी। बाल केन्द्रित बजट में सबसे बड़ा हिस्सा शिक्षा का है (2008 में 72 फीसदी) और इसके बाद ईसीसीडी का नम्बर आता है (2008 में 17 फीसदी)। इसके बावजूद बच्चों के संरक्षण या कन्या शिशु की रक्षा से जुड़े कार्यक्रम (जिसमें लिंग अनुपात का मुद्दा भी शामिल हो) बजट में कम तरजीह पाते हैं।

### क्षेत्रीय परामर्शों से निकलने वाले मुद्दे

उत्तर, पूर्वी, दक्षिणी और पूर्वोत्तर भारत में चलाए गए चार परामर्शों ने बच्चों की स्थिति के संदर्भ में

भिन्न रुझान दिखाए, साथ ही बाल सेवाओं तक पहुंच के संदर्भ में भी क्षेत्रगत भिन्नता पाई गई जो कुल सामाजिक सूचकांकों से जुड़ी थी।

उत्तरी क्षेत्र के परामर्श में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तराखंड, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और जम्मू कश्मीर से प्रतिभागी शामिल हुए। इसमें ईसीसीडी सेवाओं की बढहाली और प्रशासन के मुद्दों को प्रकाशित किया गया। इसमें उत्तराखंड में लगने वाली ऊर्जा परियोजनाओं के चलते विस्थापन के कारण बच्चों को होने वाली समस्याओं पर जोर दिया गया, साथ ही जम्मू और कश्मीर की राजनीतिक उथल-पुथल से जुड़ी समस्याओं पर भी विचार किया गया। लगातार उठने वाला मुद्दा आंगनवाड़ी केंद्रों के संचालन में पंचायतों की भूमिका का रहा।

पूर्वी क्षेत्र के परामर्श में ईसीसीडी सेवाओं तक खराब पहुंच और आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं की दिक्कतों को सामने लाया गया। खासकर उड़ीसा में बुनियादी ढांचे की विकास परियोजनाओं और आजीविका पर उनके असर को चिंताजनक रूप से रेखांकित किया गया। झारखंड के प्रतिभागियों ने आईसीडीएस कार्यक्रमों को लागू करने में राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी की बात की जबकि पश्चिम बंगाल के प्रतिनिधि ने खराब बुनियादी ढांचे और आंगनवाड़ी कार्यकर्ता की नियुक्ति में राजनीतिक दखलंदाजी की समस्या पर चिंता जताई। सभी प्रतिभागियों ने आदिवासी समुदायों के संदर्भ में

निर्देश के माध्यम से जुड़ी दिक्कत पर बात की।

दक्षिण क्षेत्र के परामर्श में आईसीडीएस का बेहतर प्रदर्शन सामने आया।

केरल में महिलाओं की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर है, जहां तकरीबन सार्विक साक्षरता दर और कम प्रजनन दर हैं, साथ ही लिंग अनुपात भी अनुकूल है। लेकिन इस राज्य में महिलाओं और युवाओं की खुदकुशी की दर भी काफी ज्यादा है, बेरोजगारी और पलायन की दर ज्यादा है, जिस वजह से यह राज्य बच्चों में गिरते लिंग अनुपात की समस्या से जूझ रहा है। आदिवासी इलाकों में पोषण और शिक्षण की दर काफी कम है; और इन इलाकों तक आईसीडीएस कार्यक्रमों की पहुंच खराब है। दोनों की वजह निर्देश के माध्यम के रूप में गैर-आदिवासी भाषा का प्रयोग है। 'शिक्षा के सांप्रदायीकरण' पर भी चिंताएं जताई गईं।

आंध्र प्रदेश में आईसीडीएस की कामयाबी का मुख्य श्रेय कार्यक्रम के क्रियान्वयन में स्थानीय समुदायों का सफल एकीकरण है; इनके मूल्यांकन और निगरानी की जिम्मेदारी मदर्स कमेटी और सीआरपी (सामुदायिक प्रतिनिधि) पर होती है जिन्हें गांव के संगठन चुनते हैं ताकि वे आंगनवाड़ी शिक्षकों के काम की निगरानी रख सकें।

तमिलनाडु इकलौता ऐसा राज्य है

जहां कवरेज 96 फीसदी यानी तकरीबन सार्विक है। यहां के आईसीडीएस केन्द्र नागरिक आपूर्ति विभाग से खाद्यान्न हासिल करते हैं जबकि अन्य राज्यों में यह बाजार से आता है। यह बड़ी वजह है कि यहां के आंगनवाड़ी केन्द्रों में भोजन की गुणवत्ता अच्छी होती है। यह अकेला ऐसा राज्य है जहां बाल लाभार्थियों को हर हफ्ते तीन अंडे दिए जाते हैं। राज्य में आईसीडीएस के तहत 'पोषक स्वास्थ्य और शिक्षण कार्यक्रम' चलाया जाता है और यहां पारंपरिक निगरानी तंत्र के अलावा एक विशिष्ट ग्राम स्तरीय निगरानी समिति होती है (वीएलएमसी) जिसमें सेवानिवृत्त शिक्षक और ग्रामीण नेता होते हैं। यह लगातार विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती है और गांव के स्तर पर विभिन्न स्वास्थ्य और पोषण मुद्दों पर सूचनाएं प्रसारित करती है। हालांकि, ग्रामीण इलाकों में सेवाओं की पहुंच अब भी अधूरी है।

पुडुच्चेरी में आईसीडीएस की खासियत यह है कि आंगनवाड़ी सीधे राज्य के तहत काम करती है जहां राज्य की भूमिका एक पर्यवेक्षक की होती है जो सेवाओं की प्रभावी आपूर्ति को सहज बनाती है। एक अन्य विशिष्टता यह है कि जीडीपी का छह फीसदी शैक्षणिक व्यय में जाता है और तीन साल तक के बच्चों के लिए बनाए गए 200 से ज्यादा स्कूलों में ईसीई का एक सुगठित पाठ्यक्रम है।

अंदमान और निकोबार द्वीपों में

सुनामी का विनाशक असर अब भी जारी है और आईसीडीएस के काम पर भी इसका असर पड़ा है।

पूर्वोत्तर क्षेत्र में फोर्सेज का परामर्श इस क्षेत्र में उसकी पहली पहल थी। इन राज्यों का अलगाव और मुख्यधारा के भारत के साथ विभिन्न स्तरों पर इसका एकीकरण, विविध सामाजिक और जातीय अस्मिताएं, दुर्गम भू-आकृतियां, दशकों से चले आ रहे जातीय व सामाजिक विभाजन तथा गरीब पलायित नागरिकों की विशिष्ट समस्याएं, खासकर असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की समस्याएं पूरे परामर्श के केन्द्र में रहीं। प्रतिभागियों ने समूचे क्षेत्र में उपेक्षा के कारण बच्चों की गिरती हालत पर प्रकाश डाला, साथ ही विनाशक बाढ़ जैसी कुछ विशिष्ट समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया जो हर साल पैदा होती हैं।

इसके अलावा पिछले चार दशकों के असंतोष और सामाजिक विभाजन के कारण एक ऐसी पीढ़ी यहां पैदा हुई है जो लगातार सदमे में है जिसके कारण युवाओं में नशीले पदार्थ का चलन और आक्रामक व्यवहार आम हो चुका है। मणिपुर के वक्ताओं ने बच्चों पर सशस्त्र संघर्षों के प्रभाव पर बात की। इनका महिलाओं और बच्चों पर दीर्घकालिक असर पड़ा है। मेघालय के प्रतिभागियों ने अपने पिता को खो चुके बच्चों की समस्याओं पर बात की जहां मातृसत्तात्मक व्यवस्थाओं के रूपांतरण और उससे मिलने वाले सुरक्षा कवच के टूटने के गंभीर दुष्परिणामों का जिक्र था।

त्रिपुरा की विशिष्ट समस्या आदिवासी और गैर-आदिवासी समुदायों के बीच गहन विभाजन से जुड़ी थीं। आदिवासी बच्चों के लिए शिक्षा के माध्यम से जुड़ी समस्या को भी प्रकाशित किया गया।

मणिपुर, नगालैंड और मिजोरम जैसे राज्यों में एचआईवी/एड्स की समस्या पर भी बात की गई जो इंसानों और मादक पदार्थों की तस्करी से जुड़ा है।

### निर्णायक नीतिगत मसले

परामर्शों में जिन निर्णायक नीतिगत मसलों पर बहस हुई, उनमें निम्न हैं:

- ईसीसीडी की बुनियादी सेवाओं को मुहैया कराने और सामान्यतः राज्य की भूमिका। इस बात पर सहमति थी कि राज्य की बुनियादी जिम्मेदारी को सुनिश्चित किया जाना होगा तथा सार्वजनिक-निजी भागीदारी की आड़ में यह जिम्मेदारी एनजीओ के कंधों पर डालने का विरोध किया जाना चाहिए।
- आंगनवाड़ियों के संचालन में स्थानीय स्वप्रशासन निकायों को संलग्न करने की जरूरत।
- आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं की स्थिति पर तात्कालिक नीतिगत ध्यान दिए जाने की जरूरत।
- आईसीडीएस केन्द्रों में शिक्षा

की उपेक्षा और शिक्षण के माध्यम का सवाल।

- कन्या शिशु की स्थिति, खासकर बच्चों में गिरते हुए लिंग अनुपात का खतरा। यह कन्या भ्रूण गर्भपात को जन्म देता है जिसे राष्ट्रीय स्तर पर संबोधित किया जाना चाहिए।
- कई ऐसी नीतियां हैं जिनका जमीनी स्तर पर और लोगों के जीवन और आजीविका पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, खासकर शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में बदलती सरकारी नीतियों का बच्चों के जीवन पर विनाशक असर पड़ता है।
- विकास परियोजनाओं का लोगों और समुदायों के जीवन पर विनाशक असर को संज्ञान में लेने की जरूरत और इस मुद्दे पर तात्कालिक हस्तक्षेप का आह्वान। इसे राष्ट्रीय मुद्दे के रूप में उठाए जाने की जरूरत।

इंद्राणी मजूमदार  
वासंती रमन  
सावित्री रे

# 1

## बच्चों के लिए भारत सरकार के कार्यक्रमों और नीतियों की एक समीक्षा —सी०पी० सुजया

बाल अधिकारों पर समिति ने अपने 35वें सत्र के निष्कर्षों (जनवरी 2004, निष्कर्ष: बाल अधिकारों पर भारतीय समिति, 35वां सत्र, 26 फरवरी 2004, संयुक्त राष्ट्र) में कुछ महत्वपूर्ण नीतिगत मसलों को छुआ था। इनमें कुछ 11वीं योजना की तैयारी से जुड़े नीतिगत वक्तव्यों में भी स्थान पाते हैं।

भारत की लोकतांत्रिक राजनीति का आधार संवैधानिक सिद्धांत हैं— मूलभूत अधिकार और राज्य के दिशानिर्देशक सिद्धांत - जो प्रत्येक नागरिक के लिए समानता और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करते हैं। दिशानिर्देशक सिद्धांतों में बच्चों के लिए विशेष ध्यान और देखरेख निहित है। भले ही, 'समावेशी विकास' की शब्दावली सकारात्मक

रूप से अक्सर इस्तेमाल की जाती है, लेकिन जमीनी साक्ष्य दिखाते हैं कि जहां कुछ समूहों को विकास की प्रक्रिया में जोड़ा गया है वहीं कुछ अन्य को नहीं, खासकर वे जिनका असर छह साल तक के बच्चों पर पड़ता है।

बाल अधिकारों के क्रियान्वयन पर बजटीय आवंटन के प्रभाव का आकलन करने की जरूरत तथा इस सूचना का व्यापक प्रसार समिति के निष्कर्षों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है (पैरा 12बी, निष्कर्ष: बाल अधिकारों पर भारतीय समिति, 35वां सत्र, 26 फरवरी 2004, संयुक्त राष्ट्र)। महिला और बाल विकास मंत्रालय ने बाल बजटीय आवंटन की अपनी उपलब्धियों को 'चाइल्ड बजटिंग: ट्रांसलेटिंग आउटलेज इनटू

आउटकम्स' नामक शीर्षक से प्रस्तुत किया है (जिसे 2002-03 में शुरू किया गया था) यह समिति की ही सिफारिशों की अनुगूँज है (मंत्रालय की 2005-06 और 2006-07 की सालाना रिपोर्टों के अध्याय 7 का शीर्षक; 2007-08 की सालाना रिपोर्ट में भी अध्याय 7 का शीर्षक है 'चाइल्ड बजटिंग: इन्पूविंग परफॉर्मेंस इन एलोकेशन एंड यूटिलाइजेशन ऑफ़ रिसोर्सेज')।

बजटीय आवंटन को सकारात्मक परिणामों में रूपांतरित करना एक चुनौतीपूर्ण काम है जो मौलिक सोच, क्रियान्वयन की प्रणाली के पुनर्गठन, सूचना और आंकड़ों के संग्रहण में संवेदनशील सूचकांकों का इस्तेमाल और साथ ही भिन्न परिस्थितियों में बाल अधिकारों के एक कारगर ढांचे की मांग करता है।

बजट में छह साल तक के बच्चों को दी गई प्राथमिकता कुछ हद तक 11वीं पंचवर्षीय योजना के तहत किए गए आवंटन पर निर्भर करती है, लेकिन एक नया और उभरता हुआ चिंता का क्षेत्र, जैसा कि समिति ने कहा है, बच्चों पर बजटीय आवंटन के प्रभाव का है। संघर्ष अब दो मोर्चों पर है - पहला, बच्चों के लिए उच्च आवंटन प्राप्त करना और यह सुनिश्चित करना कि छह साल तक के बच्चों की सारी जरूरतें पूरी हो सकें। दूसरा मोर्चा, आवंटन-परिणाम के समीकरण के आकलन का है।

समिति ने एक राष्ट्रीय समन्वय

प्रणाली के महत्व पर जोर दिया है जो सीआरसी के क्रियान्वयन की निगरानी कर सके। मंत्रालय ने ऐसी एक प्रणाली बनाई है, लेकिन समिति के मुताबिक अब भी संघीय और राज्य स्तरों पर विभिन्न निकायों के बीच ज्यादा समन्वय की जरूरत है। भारत के संघीय ढांचे को ध्यान में रखते हुए साथ ही स्थानीय स्तर पर चुनी गई सरकारों की संस्थाओं के मद्देनजर जिला, ब्लॉक और पंचायत/नगरपालिका स्तरों के बीच समन्वय को देखे जाने की जरूरत है। इन्हें समन्वय के दायरे में भी लाया जाना है जिसकी आम तौर पर उपेक्षा की जाती है क्योंकि भारत में प्रशासनिक ढांचा अब भी उच्च रूप से केन्द्रीकृत है।

इसके अलावा इन प्रणालियों में नागरिक समाज संगठनों की भी पर्याप्त हिस्सेदारी होनी चाहिए ताकि वे इन समन्वयक निकायों की कार्यवाहियों में हर स्तर पर प्रभावी योगदान दे सकें। समिति ने स्वतंत्र रूप से एनजीओ के साथ सहयोग के मुद्दे को उठाया है जो '... सहभागी हैं...और राज्यों को उन्हें (क) ज्यादा सुव्यवस्थित और समन्वित तरीके से क्रियान्वयन के प्रत्येक चरण में संलग्न करना चाहिए, जिसमें राष्ट्रीय, राज्य और स्थानीय स्तरों पर नीतिगत सूत्रीकरण भी शामिल हो...।' (पैरा 19 और 20 निष्कर्ष: बाल अधिकारों पर भारतीय समिति, 35वां सत्र, 26 फरवरी 2004, संयुक्त राष्ट्र)। समिति के इस निष्कर्ष से मुख्य सवाल यह उठता है कि क्या महिला और बाल विकास मंत्रालय

एक नोडल एजेंसी के रूप में समन्वयक की अपनी जिम्मेदारियां निभा पाने में समर्थ है?

बच्चों के लिए राष्ट्रीय कार्ययोजना की आठ कसौटियों को 2005 में कैबिनेट की मंजूरी दी गई थी और प्रधानमंत्री स्तर पर इन पर नियमित निगरानी रखी जा रही है (ये कसौटियां हैं: आईएमआर, सीएमआर, एमएमआर में कटौती; स्वच्छ पेयजल और स्वच्छता तक सार्विक पहुंच; बाल विवाह का उन्मूलन; पोलियो का उन्मूलन; एचआईवी/एड्स से संक्रमित शिशुओं की संख्या में कमी)। इतने उच्च स्तर पर निगरानी ही इन संकेतकों का महत्व बता देती है, हालांकि वास्तविक निगरानी प्रक्रिया और प्रविधि, साथ ही निगरानी समूह के घटक और उसके परिणामों की सूचना निकाल पाना बेहद कठिन है। मंत्रालय ने भी कुछ संकेतकों की एक सूची बनाई है तथा सभी राज्यों, केन्द्र शासित प्रदेशों, केन्द्रीय मंत्रालयों तथा सम्बद्ध विभागों को भेज दी हैं। इन्हें प्रोत्साहित किया गया है कि ये इन संकेतकों पर अपने विचार भेजें। लेकिन, फीडबैक देने के बारे में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है।

इतने बड़े देश में तमाम सामाजिक और आर्थिक विविधताओं व जटिलताओं के बीच निगरानी की एक विशुद्ध केंद्रीकृत प्रणाली न तो कारगर होगी और न ही उपयुक्त। हाशिये के समूहों से आने वाले बच्चों को स्थानीय स्तर पर विशेष ध्यान की जरूरत है। उनकी स्थिति में गिरावट - यानी आवंटन के

सापेक्ष कम व्यय - की विशेष तौर पर पड़ताल की जानी होगी।

समिति के मुताबिक विभिन्न बाल समूहों के सदस्यों द्वारा भोगे जाने वाले अधिकारों में असमानता एक गंभीर चिंता का विषय है। हाशिये के समूहों के बच्चों के लिए सरकारी प्रयासों को मान्यता देते हुए समिति ने इस बात पर चिंता जताई है कि जो बच्चे इन समूहों में नहीं आते लेकिन ऐसी ही स्थितियों में रहते हैं, उन्हें समान लाभ नहीं मिल रहे होंगे।

सीआरसी में दिए गए अधिकार सार्विक हैं। भले ही राज्य उन बच्चों का लक्षित करें जो ढांचागत अभावों से ग्रस्त हों, लेकिन सीआरसी बच्चों के बीच फर्क नहीं बरतता। भेदभाव न करने के सीआरसी के इस बुनियादी मूल्य तथा भारतीय संविधान में बच्चों के लिए 'विशेष प्रावधान' [अनुच्छेद 15(3)] के तहत सकारात्मक भेदभाव का आधार ही इंसानों की समानता के सार्विक मूल्य पर टिका है, भले ही सीआरसी भेदभाव को इस आधार पर वर्जित करता है जो अनुच्छेद 15(3) में दिए गए प्रावधानों से कहीं ज्यादा व्यापक हैं। दोनों की रणनीति के बीच फर्क है, और इसे बच्चों के हित में सकारात्मक रूप से प्रबंधित किए जाने की जरूरत है।

भारत को इस बात में सतर्क रहना होगा कि 'विशेष प्रावधान' से कहीं प्रतिउत्पादक स्थिति न पैदा हो जाए जो विभाजन पैदा करे, साथ ही



सरकार को हाशिये के बच्चों को समाज में एकीकरण के लिए उनकी विशेष जरूरतों को संबोधित करना होगा। इसके लिए नीतियों, विधायी कार्यवाही, न्यायिक व्याख्याओं के बीच संयोजन तथा कानूनी और सामान्य हस्तक्षेपों के एक कुशल सम्मिश्रण की जरूरत पड़ेगी।

यहां निम्न सवाल खड़े होते हैं: क्या भारत सरकार के लिए संभव है कि वह वंचित और अरक्षित समूह के बच्चों को अधिकार दिलाने की एक समय सीमा तय करे? क्या राज्य मशीनरी इन अधिकारों से वंचित बच्चों को विशेष तौर पर लक्षित करते हुए सार्विक अधिकारों के बीच संतुलन कायम कर पाएगी?

यहां आईसीडीएस का उदाहरण उपयुक्त होगा। मंत्रालय की कई रिपोर्टों में कहा गया है कि आईसीडीएस में लक्षित बच्चे हाशिये के समूहों से आते हैं जिन्हें प्राथमिकता दी जाती है। हालांकि कार्यक्रमों में इसकी पुष्टि नहीं हो पाती। अब कार्यक्रमों को ऐसे बच्चों तक पहुंचने की जरूरत है जहां तक पहुंच नहीं हो पाई है, जिसमें छह साल तक के हर बच्चे तक पहुंच बनाने का लक्ष्य शामिल हो।

अनपहुंचे क्षेत्रों तक पहुंच बनाने में राज्य की विफलता पर समिति की उत्तेजना को आंकड़ा संग्रहण पर उसकी सिफारिशों में देखा जा सकता है। इसमें सीआरसी के अनुकूल एक प्रणाली कायम करने की बात कही गई है जो लिंग,

आयु, सामाजिक अवस्था, शहरी और ग्रामीण अवस्था इत्यादि का श्रेणीकरण हो, साथ ही अलगाए गए समूहों पर जोर हो - सीआरसी आधारित आंकड़ों का समुच्चय। इस सूचना को सार्वजनिक किया जाना होगा और इसे घोषणापत्र को लागू करने की दिशा में नीतियों व कार्यक्रमों के निर्माण का आधार बनाया जाना होगा। समिति की यह सिफारिश निर्णायक है क्योंकि यह बच्चों के लिए बजटीय आवंटन में मददगार होगी, खासकर उन क्षेत्रों में जहां बच्चों की संख्या आदि आंकड़ों के अभाव में ही बजटीय आवंटन कर दिया जाता है जिसमें अलगाए गए समूह भी शामिल होते हैं, जिन्हें अन्यथा लाभ मिल सकता था। बच्चों के अधिकारों के समर्थक सभी नागरिक समाज समूहों को ऐसी पहल का पूर्ण समर्थन करना चाहिए।

छह साल तक के वंचित बच्चों की तुलनात्मक स्थिति, जैसे कि एनेमिया, आईएमआर, टीकाकरण, जन्म पंजीकरण आदि संकेतकों के संदर्भ में और महिलाओं से जुड़े संकेतकों के संदर्भ में भी (मातृ मृत्यु दर, प्रसवपूर्व देखभाल, स्वास्थ्य कर्मियों से संपर्क, प्रसव में सहयोग, प्रसव का स्थान आदि) अन्य बच्चों के मुकाबले काफी खतरनाक है। जाति और समुदाय पर आधारित भेदभाव के अतिरिक्त धन, ग्रामीण-शहरी अवस्थिति, धर्म, शैक्षणिक स्थिति (माता-पिता की भी शैक्षणिक स्थिति समेत), आयु और उच्च समदृश्यता (महिलाओं की) पर आधारित असमानता एनएफएचएस 3 के

आंकड़ों में स्पष्ट प्रतिबिंबित होती है। इससे एक महत्वपूर्ण सबक यह निकलता है कि मोटे तौर पर सामाजिक और जातीय संकेतकों पर आधारित अलग-थलग पड़े समूहों तक पहुंच पर जोर देते हुए धन सम्पदा के आधार पर रैंकिंग से छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए। आंकड़े जिस तरीके से प्रस्तुत किए जाते हैं, वे इस बात का खुलासा कर सकते हैं कि बच्चों को अपने दैनिक जीवन में कैसे भेदभाव का सामना करना पड़ता है, इसलिए आंकड़े कड़वी सचाइयों को भी सामने ला सकते हैं और प्रस्तुत करने की शैली पर निर्भर करता है कि वे सचाई को दबा भी सकते हैं।

प्रशासनिक उद्देश्यों से आंकड़ों की राज्यवार प्रस्तुति जहां अनिवार्य है, वहीं अब इस बात की भी जरूरत उभर रही है कि आंकड़ों को सामाजिक, आर्थिक और अन्य किस्म के भेदभाव के कारणों व संकेतकों में बांट कर पेश किया जाए। सीआरसी आधारित आंकड़ा समुच्चय बनाने की समिति की सिफारिश को भारतीय राज्य द्वारा सीआरसी के अनुपालन में एक बाध्यकारी घटक बना दिया जाना चाहिए जो कि विभिन्न असमानताओं को दिखाते हुए नियमित आधार पर इसे व्यापक रूप से प्रसारित कर सके। भारत के बच्चों के संदर्भ में समावेशी विकास की योजना की दिशा में यह पहला कदम होगा। हो सकता है ऐसे आंकड़े आज हों, लेकिन विभिन्न विभागों, मंत्रालयों, संस्थानों और अवधियों में वे बंटे हुए हैं। एक

ठोस संकलन जरूरी है जो न सिर्फ बच्चों के मुद्दे को सामने लाए, बल्कि सामान्यतः समावेशी नियोजन में मददगार हो।

यह संदर्भ - विशेष तौर पर विभिन्न सामाजिक संकेतकों के आधार पर श्रेणीकृत आंकड़ों के लिए समान मानक और कसौटियां बनाए जाने के विशेष प्रावधानों की आवश्यकता - हमें एक समस्या की ओर ले जाती है कि आवंटन को कैसे नतीजों में बदला जाए, इसलिए क्योंकि गैर-संस्थागत कारक उपलब्ध अनुदानों का उपयोग होने से रोकने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। बच्चों के लिए बजट बनाने की विधि एक गंभीर दोष का शिकार है, हालांकि बाल अधिकारों और जरूरतों पर जोर दिए जाने का हम स्वागत करते हैं। यह विधि सिर्फ बाल केन्द्रित कार्यक्रमों और नीतियों पर ही खुद को केन्द्रित करती है, बजाय समूचे बजट के कार्यक्रमों को जो कि बच्चों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से प्रभावित करते हैं। अंततः बच्चों के लिए बजट बनाने का काम उसे सिर्फ चार श्रेणियों विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा और सुरक्षा में बांट कर भी उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता क्योंकि यह भी समस्याग्रस्त है। इस अर्थ में कि कुछ मदों को दूसरों के मुकाबले कम प्राथमिकता दी जाती है जबकि तकरीबन सारा जोर दूसरे मदों पर ही रहता है।

यह प्रचार अंततः आईसीडीएस 4 पर नजर डालता है। इसमें भी नजरिया सार्विकता के सिद्धांत,

मंत्रालय की रणनीति में दिक्कतों की पहचान और अरक्षित समूहों के बच्चों पर जोर देते हुए सार्विकता के साकारिकरण के लिए किए जाने वाले ढांचागत बदलावों पर केन्द्रित है।

### लागत और व्यय में अंतर

‘बाल केंद्रित’ कार्यक्रमों पर लागत की गणना पर अब ध्यान दिए जाने के कारण बच्चों पर निवेश के विषय के बारे में ज्ञान और जागरूकता बढ़ी है। 1998-99 से 2007-08 के बीच बच्चों के लिए आने वाली इस प्रत्यक्ष लागत की दर केंद्रीय बजट के 1.98 फीसदी से 5.08 फीसदी के बीच रही (2004-05 से 2007-08 के बीच इस लागत में पर्याप्त बढ़ोतरी हुई है)। ये लागत के आंकड़े हैं - व्यय नहीं और इन्हें बच्चों के विकास के परिणामों के रूप में कतई नहीं देखा जा सकता। इस लिहाज से यह बच्चों के लिए राज्य की प्राथमिकता का ‘एकायामी’ संकेतक है।

इसलिए परिणामों के सापेक्ष लागत की पर्याप्तता पर कोई भी टिप्पणी नहीं कर सकता। भारत ने जिन परिणामों के प्रति खुद को वचनबद्ध किया है, वे वर्ल्ड फिट फॉर चिल्ड्रेन (डब्ल्यूएफसीसी), सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (एमडीजी) और बाल अधिकारों पर घोषणापत्र (सीआरसी) की वचनबद्धताओं का हिस्सा हैं। इसके अलावा पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्य भी इसमें शामिल हैं। ये बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक दी हुई

समय सीमा के भीतर इन वचनबद्धताओं को पूरा करने के लिए संसाधनों के आवंटन की पर्याप्तता के बारे में अल्प ज्ञात है।

हालांकि ऐसा लगता है कि सरकार अब नए तरीके से सोच रही है। बच्चों के लिए बजटीय प्राथमिकता के आकलन में चाइल्ड बजटिंग को विश्लेषणात्मक औजार के रूप में देखने के अतिरिक्त इसे इस रूप में भी देखा जा रहा है कि बच्चों के कार्यक्रम पर्याप्त रूप से बच्चों के अधिकारों और जरूरतों के हिसाब से हैं या नहीं।

बच्चों के लिए बजट बनाने की कवायद का मुख्य लक्ष्य आवंटित प्रावधानों के उपयोग का एक आकलन है। बेहतर उपयोग को वास्तविकता में तब्दील करने के लिए मंत्रालय को वित्तीय विकेंद्रीकरण, भागीदारी, पारदर्शिता और क्रियान्वयन की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक बनाने हेतु जवाबदेही सुनिश्चित करने की जरूरत है। लागत-परिणाम समीकरण का इच्छित लक्ष्य पाने के लिए *परिणाम के संकेतकों* का सूत्रीकरण करना होगा ताकि प्रभाव का आकलन किया जा सके - *अंतरिम और अंतिम* दोनों।

महिला और बाल विकास मंत्रालय ने बाल बजटिंग की प्रक्रिया 2002-03 में शुरू की थी। 2004-05 के दौरान मंत्रालय ने एक रुझान यह देखा कि *वास्तविक व्यय बजटीय लागत* के मुकाबले कम पड़ रहा था (सालाना रिपोर्ट, महिला और बाल विकास मंत्रालय, अध्याय

7, पैरा 7.1-7.2)। अधिकतर बजटीय लागतों में कमी के स्वीकार्य तथ्य के बावजूद लागत के मुकाबले वास्तविक व्यय में कमी बदतर स्थिति का परिचायक है, जिसे सरकार ने खुद अपनी रिपोर्ट में माना है। इसके लिए मंत्रालय ने यह कारण बताया है कि अनुदानों को खर्च करने या अवशोषित करने की क्षमता में कमी है, प्रक्रियागत विलंब और लचर क्रियान्वयन है। मंत्रालय द्वारा बुलाई गई एक कार्यशाला में मृत्यु दर, पोषण और शिक्षा के क्षेत्रों में लागत व व्यय के अंतर को स्वीकार किया गया। इसने माना कि अनुदानों का पूरा इस्तेमाल कर पाने की अक्षमता के कारण बाल विकास के मूल संकेतकों में सुधार नहीं हो पा रहा है। इसकी वजह के रूप में 'गैर-वित्तीय प्रतिबंधों' को गिनाया गया (सालाना रिपोर्ट, महिला और बाल विकास मंत्रालय, 2005-06, अध्याय 7, पैरा 7.1-7.2), लेकिन यह इन्हें दूर करने के तरीके बता पाने में विफल रहा।

जब बजटीय अनुदान की पर्याप्तता ही आशंका के घेरे में हो, तब अनुदानों का उपयोग करने में संस्थागत क्षमता की कमी स्थिति को और बदतर कर देती है।

अपर्याप्त सार्वजनिक व्यय और लागत का विरोध जहां सही है, वहीं दूसरी ओर लागत को परिणामों से जोड़ने के लिए क्षमता निर्माण के पक्ष में भी उतना ही भीषण अभियान चलाया जाना चाहिए।

इसकी कुंजी बजट लागत के उपयुक्त और प्रभावी उपयोग में निहित है न कि सिर्फ व्यय में, जो परिणाम नहीं दे सके। इस मुद्दे पर उतना ध्यान नहीं गया है जितना दिया जाना चाहिए था। यह एक व्यापक विषय है और समूचे प्रशासनिक ढांचे व उसकी कार्य करने की प्रणाली से जुड़ा है।

### बच्चों के लिए बजटिंग - ढांचा और प्रविधि

महिला और बाल विकास मंत्रालय बच्चों के लिए बजटिंग के लिए अपनी एक्स आंटे यानी घटना से पहले की रणनीति का नाम प्रयोग करता है - यानी यह 'बाल केंद्रित' योजनाओं को चुनता है जिनका सीधा लक्ष्य बच्चों को माल या सेवाएं मुहैया कराना होता है। यह मानता है कि घटना के बाद की रणनीति यानी एक्स पोस्टे रणनीति में वह उतना समय नहीं दे सकता जिसकी दरकार है या फिर सूचना की अपर्याप्तता से निपटने के लिए संघर्ष संभव नहीं। इसके लिए 'सरकार द्वारा चलाई जा रही योजनाओं/कार्यक्रमों में सभी लाभार्थियों के बीच बच्चों के अनुपात' की पहचान की जरूरत होगी। (सालाना रिपोर्ट, महिला और बाल विकास मंत्रालय, 2006-07)।

'बाल केंद्रित' योजनाओं व कार्यक्रमों को परिभाषित करने के लिए अपनाया गया मानक कई स्तरों पर त्रुटिपूर्ण है। नीचे दिया गया उदाहरण महिला और बाल विकास मंत्रालय की सालाना रिपोर्ट से है।

भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के लिए बजट लागत की बात बाल बजट में नहीं है, जबकि यहां देश के सबसे बेहतरीन नियोनेटोलॉजी इकाइयों में एक मौजूद है। इसकी वजह यह बताई गई है कि 'इसमें निहित नीति विशिष्ट तौर पर बच्चों के लिए बेहतर परिणामों के उद्देश्य से नहीं है।' (सालाना रिपोर्ट, महिला और बाल विकास मंत्रालय, 2006-07, अध्याय 7, पैरा 7.15)। कई ऐसे मामले हो सकते हैं जहां 'बाल केंद्रित' सेवाएं और माल व्यापक कार्यक्रम का हिस्सा हों, जहां कुल बजट का एक हिस्सा बच्चों को समर्पित हो। बच्चों के लिए कितने संसाधन उपलब्ध हैं, यह पता करने के लिए पूर्व शर्त सरकारी बजट में ऐसी पहचान करना है और इससे भी महत्वपूर्ण आने वाले वर्षों में आवश्यक निवेश की गणना करना है जिससे बच्चों के लिए तय किए गए लक्ष्यों तक पहुंचा जा सके।

मंत्रालयों के बजट में बच्चों के लिए तय किए गए संसाधनों की गणना का उद्देश्य बाल बजटिंग की कवायद को उस प्रविधि के करीब लाना है जो लैंगिक बजटिंग के लिए अपनाई जाती है। महिला और बाल विकास मंत्रालय मानता है कि एआरडब्ल्यूएसपी (तीव्र ग्रामीण जलापूर्ति योजना) और टोटल एसएस (सुरक्षित स्वच्छता) जैसे महत्वपूर्ण बजटों के मामले में *कितने बच्चों को वास्तव में लाभ मिलता है, यह एक अज्ञात चीज बनी हुई है।*

यदि यह आंकड़ा श्रेणीबद्ध या समग्र

रूप में (राष्ट्रीय या राज्य स्तर पर) उपलब्ध भी हो, तो यह जिला या उपजिला स्तर पर नहीं मिलेगा, जहां लागत-परिणाम के समीकरण के माध्यम से स्थानीय नियोजन के लिए यह काफी महत्वपूर्ण होता है। छोटे स्तर पर स्थानीय विश्लेषण और नियोजन का अभाव (ग्राम और परियोजना स्तर पर) अपरिहार्य रूप से नियोजन के संकेंद्रण को जन्म देता है और सार्वजनिक निवेश पर जोर को बढ़ा देता है। 73वें संवैधानिक संशोधन के बावजूद स्थिति पर कोई बुनियादी फर्क नहीं पड़ा है।

बड़ा सवाल यह है कि क्या हमारा ध्यान सिर्फ बाल केंद्रित कार्यक्रमों की लागत के घटने या बढ़ने पर ही केंद्रित रहे। ऐसे क्षेत्रगत लागत को बाहर रखने की एक प्रवृत्ति मौजूद है (जैसे पर्यावरण और झुग्गी विकास) जिन्हें बाल केंद्रित के रूप में तो श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता, लेकिन जो बच्चों के चौतरफा विकास व कल्याण के लिए जरूरी हैं। इससे एक और सवाल खड़ा होता है: क्या भारत सामाजिक सेवाओं पर पर्याप्त व्यय कर पाया है यह ध्यान में रखते हुए कि ऐसे व्यय की कितनी जरूरत है? सारे संकेत इसी बात के हैं कि ऐसा नहीं किया गया है।

इसके अलावा, पंचायतों और समुदाय आधारित संगठनों के ज्यादा सशक्तिकरण की दिशा में एक सुनियोजित कदम उताना ही महत्वपूर्ण हो सकता है जितना बजटीय लागत में इजाफा, ताकि इन निकायों को

भौतिक, वित्तीय और अन्य संसाधनों को मुहैया कराने के साथ स्थानीय स्तर पर क्रियान्वयन, निरीक्षण, निगरानी और निर्णायक बदलाव कर पाने का अधिकार मिल सके। स्थानीय समुदायों को मजबूत करने और चयनित पंचायतों को सत्ता देने के लिए, तथा उन्हें बच्चों के मुद्दों समेत सीआरसी के प्रति ज्यादा जागरूक बनाने के लिए वित्तीय और गैर-वित्तीय दोनों ही किस्म के निवेश की जरूरत पड़ेगी।

इसे आम तौर पर बच्चों के मुद्दे के रूप में नहीं देखा जाता और बच्चों के लिए काम करने वाली लॉबी को इसे उठाना चाहिए।

### विकास, स्वास्थ्य, सुरक्षा और शिक्षा

बाल बजट का उपर्युक्त चार श्रेणियों में स्पष्ट विभाजन निष्पक्ष नहीं हो सकता और इस बात को महिला और बाल विकास मंत्रालय खुद मानता है। मंत्रालय ने बच्चों की सुरक्षा के लिए लगातार घटते व्यय को रेखांकित किया है। हमेशा से ही इस हिस्से को बजट का सबसे कम अंश मिलता रहा है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान बाल सुरक्षा के लिए बजटीय आवंटन न सिर्फ बहुत कम रहा है, बल्कि उसका कुल आकार भी बेहद मामूली है। 2001-02 के संशोधित अनुमानों के मुताबिक बाल संरक्षण के लिए कुल केंद्रीय बजट में हिस्सेदारी 0.027 फीसदी से बढ़ कर 2006-07 के बजट अनुमानों के हिसाब से 0.034 फीसदी ही हो सकी है। 2006-07

में इस मद में कुल व्यय महज 0.70 फीसदी है जो बच्चों के लिए कुल केंद्रीय लागत एक फीसदी से भी कम है जबकि अन्य तीन मदों विकास, स्वास्थ्य और शिक्षा पर 17.72, 11.43 और 70.14 फीसदी व्यय रहा है (महिला और बाल विकास मंत्रालय सालाना रिपोर्ट 2006-07)।

संरक्षण के लिए आखिर कितने व्यय की जरूरत पड़ेगी ताकि बच्चों के सभी अधिकार सुनिश्चित किए जा सकें?

बाल संरक्षण के लिए संसाधनों के आवंटन में असमानताएं काफी लंबे समय से बनी हुई हैं। सुरक्षा की जरूरत महसूस करने वाले बच्चों की संख्या के मद्देनजर न्यूनतम रणनीति बनाने में कठिनाई पैदा होगी। ग्यारहवीं योजना के लिए बाल संरक्षण पर बनी उपसमिति रक्षात्मक रणनीति की बात करती है - पैरोकारी, प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण की पारंपरिक रणनीतियों से पार जाकर सक्रिय रूप से अरक्षित परिवारों की पहचान करना- और एक संरक्षणात्मक रणनीति, जो न सिर्फ नुकसान होने के बाद की स्थिति से निपट सके बल्कि दीर्घकालिक संरक्षणात्मक रणनीति में निवेश कर सके। यह नया परिप्रेक्ष्य पहले वाली रणनीति से काफी अलग है जिसमें 'सुरक्षा' को सिर्फ उच्च जोखिम वाले बाल समूहों जैसे सड़कों पर रहने वाले बच्चों, काम करने वाले बच्चों, बाल अपराध न्याय तंत्र के तहत आने वाले बच्चों, अपराध के शिकार बच्चों,

अक्षम बच्चों आदि के सीमित संदर्भ में देखा जाता था। यहां दो निर्णायक सवाल उभरते हैं - पहला ग्यारहवीं योजना में बाल सुरक्षा के लिए उपलब्धसंसाधन और दूसरा, संस्थागत क्षमता की मौजूदगी जो इस नए परिप्रेक्ष्य में सेवाओं को मुहैया करा सके।

2000-01 से 2004-05 के बीच केंद्रीय बजट में बाल सुरक्षा पर वास्तविक व्यय 67 करोड़ रुपये से लेकर 147 करोड़ रुपये के बीच था जबकि उपसमिति की सिफारिशों में इसे पंचवर्षीय योजना के प्रत्येक वर्ष के लिए 2000 करोड़ रुपये तय किया गया था (अनुलग्नक 1, पेज 165 और तालिका 'बाल सुरक्षा के लिए प्रस्तावित बाल संरक्षण', पेज 164, बाल संरक्षण पर उपसमिति की रिपोर्ट)।

### 0-6 साल तक के बच्चे: सार्विकीकरण और आईसीडीएस कार्यक्रम

आईसीडीएस कार्यक्रम अब 30 साल से ज्यादा पुराना हो चला है। भारत की पहली सीआरसी रिपोर्ट (1997) ने कहा था कि 0-6 साल तक के 1.8 करोड़ बच्चे कार्यक्रम के तहत कवर किए गए थे; 30 सितंबर, 2006 तक कार्यक्रम में 5.43 करोड़ बच्चों को कवर किया गया (पैरा 3.06, सालाना रिपोर्ट, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय, 2006-07)। मंत्रालय की पूर्व सचिव रेवा नय्यर ने हाल ही में एक सेमीनार में कहा था कि 2001 की जनगणना के मुताबिक छह साल

तक के 18 करोड़ बच्चों में सिर्फ छह करोड़ आंगनवाड़ी कार्यक्रम के तहत पंजीकृत हैं ('बच्चों के भोजन पर राष्ट्रीय सेमीनार की संक्षिप्त रिपोर्ट, फरवरी 2008, आयोजक स्वामी शिवानंद स्मृति संस्थान, नई दिल्ली, पेज 4)।

भारत की पहली सीआरसी रिपोर्ट ने भले ही 1.8 करोड़ बच्चों की कवरेज दिखाई थी, लेकिन उसने दावा किया था कि कार्यक्रम को मार्च 2006 में ही सार्विक बना दिया गया था। सरकार द्वारा 1997 की रिपोर्ट में प्रयोग की गई सार्विकीकरण की अवधारणा सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों में इस्तेमाल की गई अवधारणा से बिल्कुल भिन्न थी जिसे आम तौर पर भोजन का अधिकार के नाम से जाना जाता है जो पीयूसीएल बनाम भारत सरकार और अन्य, रिट याचिका (नागरिक) 196, 2001 के रूप में सामने आया था।

मोटे तौर पर समता के साथ सार्विकीकरण का अर्थ है (1) प्रत्येक रिहाइश में एक आंगनवाड़ी केंद्र हो (2) सभी आईसीडीएस सेवाएं योग्य किशोरियों और महिलाओं व छह साल से नीचे के बच्चों तक पहुंचें, (3) सेवाओं की गुणवत्ता में क्रांतिकारी सुधार आए और (4) वंचित समूहों को प्राथमिकता दी जाए, खासकर अनुसूचित जाति/जनजाति के लोगों और शहरी झुग्गियों के लोगों को।

1997 में जिस सीमित संदर्भ में सार्विकीकरण का प्रयोग किया गया था, वह महिला एवं बाल विकास



मंत्रालय द्वारा तैयार ग्यारहवीं योजना के अवधारणा पत्र में सामने आता है (2007, आईसीडीएस-4 परियोजना अवधारणा पत्र (संशोधित), 14 सितंबर 2007, केंद्रीय परियोजना प्रबंधन इकाई, एमडब्ल्यूसीडी, भारत सरकार), जहां यह कहा गया है कि नौवीं योजना के अंत तक आईसीडीएस कार्यक्रम का विस्तार देश के सभी ब्लॉकों तक कर दिया गया था और अब (ग्यारहवीं योजना के उद्देश्य से) इसे सार्विक बनाए जाने की योजना है।

मातृ और शिशु स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन राष्ट्रीय और राज्यों (मध्य प्रदेश) के स्तर पर देखा जाना चाहिए: राष्ट्रीय स्तर पर 81.1 फीसदी छह साल से कम उम्र के बच्चे आंगनवाड़ी केंद्रों से कवर किए गए इलाकों में रहते हैं, लेकिन महज 28.4 फीसदी बच्चों को ही पिछले साल कोई सेवा प्राप्त हुई है। मध्य प्रदेश में 79.8 फीसदी छह साल से कम उम्र के बच्चे आंगनवाड़ी केंद्रों से कवर किए गए इलाकों में रहते हैं, लेकिन महज 43.8 फीसदी बच्चों को ही पिछले साल कोई सेवा प्राप्त हुई है (विकास संवाद, 'मध्य प्रदेश और भारत में मातृ और शिशु स्वास्थ्य की स्थिति-एक तुलनात्मक अध्ययन')।

आंगनवाड़ी केंद्रों को मंजूर किए जाने और उन्हें संचालित किए जाने के बीच सबसे बड़ी कमी दोनों में समय के अंतर की आती है। भले ही आईसीडीएस परियोजनाओं की संख्या 2005-06 के 5652 से बढ़ा

कर मार्च 2007 के अंत तक 6284 कर दी गई हो, लेकिन सिर्फ 5829 ही कार्यरत थे। इस अवरोध को दूर करने के लिए जरूरी है कि राज्यों, जिलों, पंचायतों और समुदायों समेत संबद्ध सुधारों तक अधिकारों का विकेंद्रीकरण कर दिया जाए, साथ ही वित्तीय और प्रशासनिक प्रक्रियाओं को सहज बनाया जाए।

मंत्रालय द्वारा तैयार किए गए अवधारणा पत्र में अधिकतर सिफारिशें पारंपरिक हैं जो विकेंद्रीकृत प्रबंधन की बात करती हैं जो 'स्वास्थ्य सेवाओं, स्वच्छता व शौच सुविधाओं, स्वच्छ पेयजल, लैंगिक व सामाजिक सरोकारों तथा बाल आचरण से जुड़ी मुद्दों का एकीकरण कर सकें।' लेकिन इन संदर्भों में पंचायतों को अधिकार देने संबंधी कोई विवरण नहीं है। वास्तविक विकेंद्रीकरण और अधिकारों का स्थानांतरण स्थानीय सरकारों को मजबूत करता है, जो स्थानीय समुदायों तक सामुदायिक संगठनों और एनजीओ के साथ भागीदारी के माध्यम से आउटरीच को बढ़ा सकता है (और जिसे बढ़ाना चाहिए)।

इस अंतर को मानने से इनकार का नतीजा यह होता है कि हम चुने गए निकायों जैसे पंचायतों और नगर समितियों से एनजीओ व सामुदायिक संगठनों का घालमेल कर देते हैं। नतीजा इन सभी निकायों के लिए नकारात्मक ही रहता है।

अवधारणा पत्र में कुछ विचार काफी चिंताजनक हैं। एक नीतिगत



परिप्रेक्ष्य को इसमें प्रस्तुत किया गया है जिसमें *हाशिये के और अलग पढ़े समूहों को केंद्र में लेते हुए सेवाओं के सार्विक कवरेज की अवधारणा को ही अलग-थलग छोड़ देने का खतरा पैदा हो गया है।*

आईसीडीएस-4 के तहत विश्व बैंक ने आठ राज्यों से 160 जिलों को सघन सहयोग के लिए चुना है, जिसमें आंध्र प्रदेश को आदर्श माना गया है और बाकी सात राज्यों को कुपोषण की उच्च मौजूदगी के कारण चुना गया है। भले ही अवधारणा पत्र इसे *बेहतर लक्ष्यों* के रूप में परिभाषित करता है, लेकिन इसके कई आयाम हैं। पत्र कहता है कि भारत में कुपोषण कुछ ही जिलों और गांवों में संकेंद्रित है। लेकिन तथ्य यह है कि ये गांव और जिले सिर्फ सात राज्यों में नहीं बल्कि पूरे देश में फैले हुए हैं। इस तरह अवधारणा पत्र राज्यों के बीच एक नकली विभाजन पैदा करता है - जिसमें कुछ को 'बेस्ट प्रैक्टिस' के तहत और कुछ को बदतर स्थिति के तहत लेते हुए बाकी को छोड़ दिया गया है। जिलों और राज्यों को तो प्रशासनिक इकाइयों के रूप में चुन लिया गया, लेकिन रिहाइशों, भौगोलिक रूप से बंटे हुए वंचित क्षेत्रों को छोड़ दिया गया है।

मंत्रालय द्वारा तैयार अवधारणा पत्र की तुलना आईसीडीएस के अवधारणात्मक ढांचे से की जानी चाहिए जो कि छह साल तक के बच्चों के लिए रणनीतियों का एक व्यापक हिस्सा है और जिसे योजना

आयोग के अनुरोध पर तैयार किया गया था। इसे 'छह साल तक के बच्चों के लिए कार्य समूह' के तहत संकलित किया गया है (जिसमें कई जाने-माने कार्यकर्ता और बाल विकास के विशेषज्ञ शामिल थे), जो इस आयु वर्ग के बच्चों की कुल स्थिति पर खासकर हालिया एनएफएचएस सर्वेक्षण के आलोक में नजर डालता है (सिर्फ आईसीडीएस के विशिष्ट संदर्भ में ही नहीं)। यह स्थिति के समाधान के लिए बहुक्षेत्रीय हस्तक्षेपों की बात करता है। यह कहता है कि अकेले आईसीडीएस सारी सुविधाएं और सेवाएं मुहैया नहीं करा सकता बल्कि इसे छह साल तक के बच्चों के लिए समग्र रणनीति में सिर्फ एक घटक के रूप में देखा जाना चाहिए। यह मानता है कि आईसीडीएस में कई स्वास्थ्य, पोषण और शैक्षणिक समस्याओं को दूर करने की क्षमता है और यह उसकी अनिवार्य शर्त भी है।

इसके उलट आईसीडीएस-4 का अवधारणा पत्र दावा करता है कि आईसीडीएस कार्यक्रम सरकारी प्रयासों के केंद्र में रहेगा जिससे *बच्चों के कुपोषण संबंधी सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों को* हासिल किया जा सके - न सिर्फ कम वजन की दर को आधा करना, आईएमआर में कमी और मातृ स्वास्थ्य में सुधार, बल्कि सार्विक प्राथमिक शिक्षा और ईएफए की प्राप्ति के साथ ईसीसीडी का विस्तार, 'चूंकि कुपोषण इन सभी एमडीजी से कटी करीबी से जुड़ा हुआ है।'

फोकस कार्य समूह छह साल तक के बच्चों के लिए समग्र रणनीति की सूची देता है (क) बच्चों के लिए भोजन और माताओं के लिए मातृत्व की आवश्यकताओं की पूर्ति (ख) बाल सेवा का एक ऐसा तंत्र जिसमें परिवार की ओर से देखभाल की पूर्ति होती है और महिलाओं का सशक्तिकरण होता है (ग) स्थानीय स्तर पर उपलब्ध एक ऐसा स्वास्थ्य सेवा तंत्र जो खतरनाक रोगों से लड़ सके। पर्चे में आईसीडीएस की विशिष्टताओं से निपटने का भी एक ढांचा मुहैया कराया गया है, जिससे उसकी क्षमता का पूरी तरह दोहन किया जा सके।

छह साल से नीचे तक के बच्चों के कार्य समूह द्वारा कार्यक्रम के पुनर्गठन के लिए एक निर्णायक सुझाव यह दिया गया कि पूरक पोषण के माध्यम से 300 कैलोरी के मौजूदा आंकड़े को संशोधित किया जाए, जो लंबे समय से बना हुआ है।

आईसीडीएस-4 पर मंत्रालय का अवधारणा पत्र कार्यक्रम से जुड़े कुछ 'गरम' मुद्दों पर चर्चा करने से बचता है, जैसे फूड फोर्टिफिकेशन और माइक्रोन्यूट्रिएंट का पोषण। फूड फोर्टिफिकेशन के अच्छे

और बुरे प्रभावों पर पर्चे में बात नहीं की गई है। यह मुद्दा भी देश में विवादास्पद बन चुका है, जबकि फोर्टिफाइड फूड का उत्पादन देश में बढ़ता ही जा रहा है। पर्चा सिर्फ सरकारी योजना से शब्द उधार लेता है जिसमें स्फारिश की गई है कि भोजन को माइक्रो न्यूट्रिएंट्स से फोर्टिफाई किया जाए और इसे एमएनडी से निपटने की एक रणनीति के रूप में पेश किया गया है। यह उत्तर-भूमंडलीकरण की स्थिति के पार जाकर समस्याओं को संबोधित नहीं करता।

इन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मंत्रालय आईसीडीएस से शुरू करता है और उसी पर अपनी बात समाप्त करता है। यह समग्रता में 0-6 साल तक के बच्चों की दुनिया पर बात नहीं करता। यह इसे आईसीडीएस के चश्मे से देखता है। ऐसा लगता है कि मंत्रालय समूची ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान बच्चों के विकास और अधिकारों पर नियोजन की एक कवायद के रूप में इस पर्चे को देखता है। यह मान कर चलता है कि एमडीजी और डब्ल्यूएफएफसी द्वारा पेश की गई सभी चुनौतियां आईसीडीएस के एक बेहतर संस्करण से पूरी की जा सकती हैं।

# 2

## कन्या शिशु की नियति - होने और न होने के बीच

### भाग-1

#### लुप्त बच्चियों का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

-सावित्री रे

कन्या शिशु का सार्क दशक (1990-2000) त्रासद रूप से एक ऐसा दशक रहा जब कन्या शिशु की विलुप्ति की दर अस्सी के दशक में महिलाओं की विलुप्ति की दर से भी तेज हो गई। भारत में हर साल 1.2 करोड़ पैदा होने वाली बच्चियों में 30 लाख अपने 15 साल तक भी जिंदा नहीं रह पाती हैं। लड़कियों का ऐसे 'गायब होना' एक ऐसी परिघटना है जिसने कार्यकर्ताओं, शिक्षावियों और नीति निर्माताओं को बच्चों में गिरते लिंग अनुपात (सीएसआर) के मुद्दे की ओर ध्यान देने को बाध्य किया है।

लड़कियों के 'गायब होने' के पीछे 'सांस्कृतिक पक्षपात' की वजह का गिनाया जाना इस समस्या का सरलीकरण है और यह अपर्याप्त है। ऐसा सरलीकरण सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं और संदर्भों, विकास नीतियों के प्रभाव और उन व्यापक राजकीय नीतियों से ध्यान हटाता है जो इस किस्म की सांस्कृतिक पक्षधरता की अवधारणा को जन्म देती हैं।

मौजूदा शोध सांस्कृतिक और संरचनागत तर्कों के बीच डोलता है। औपनिवेशिक विद्वानों ने सांस्कृतिक

पक्षपात पर जोर दिया था और पाया था कि विभिन्न जातियों में मध्यम और उच्च सामाजिक वर्गों के बीच कन्या भ्रूण हत्या का चलन अपनी सामाजिक स्थिति को बनाए रखने तथा दहेज से बचने के लिए कायम था। समकालीन शोध ने हालांकि दिखाया है कि इस किस्म के औपनिवेशिक आचरण किस तरह औपनिवेशिक शासन से जुड़े हुए थे - औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का 'पौरुषीकरण' और संपत्ति के अधिकारों से महिलाओं को और ज्यादा अलगाया जाना जिससे दहेज और लड़कों को प्राथमिकता देने का एक संदर्भ निर्मित होता था। हालांकि, जाति अब भी विभिन्न क्षेत्रों में गिरते लिंग अनुपात में अलग-अलग तरीकों से केंद्रीय भूमिका रखता है।

हालिया अध्ययनों ने इस बात को रेखांकित किया है कि भूमंडलीकरण, प्रौद्योगिकी तक सहज पहुंच, श्रम आचार से जुड़े कारक, उपभोक्तावाद और शिक्षित शहरी मध्यवर्ग की भूमिका का मिश्रित कारण ही लिंग अनुपात पर प्रभाव डाल रहा है। इन अध्ययनों ने लिंग अनुपात के संदर्भ में सरलीकृत व्याख्याओं पर सवाल खड़ा किया है और इस चिंताजनक रुझान पर एक बेहतर समझदारी निर्मित की है।

कुछ अध्ययनों ने महिलाओं की श्रम भागीदारी और बच्चों के लिंग अनुपात की ओर भी इशारा किया है। यह पाया गया कि जहां महिला श्रम की दर ज्यादा है (कुछ दक्षिणी राज्यों में) वहां आम तौर पर लड़कियों के बचने की गुंजाइश

ज्यादा होती है और जहां श्रम में महिलाओं की भागीदारी कम होती है (उत्तरी भारत में), वहां ऐसा संभव नहीं होता। इससे यह पता चलता है कि परिवार में महिलाओं द्वारा किए जाने वाले आर्थिक योगदान पर कन्या शिशु के बचने की संभावना निर्भर करती है। इसी के साथ यह भी बात सामने आई है श्रम में महिलाओं की ज्यादा भागीदारी बच्चों की मृत्यु दर पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

हालांकि सबसे चिंताजनक बात यह है कि ग्रामीण भारत के मुकाबले शहरी इलाकों में कन्या भ्रूण हत्या की दर कहीं ज्यादा है। शहरी बच्चों में लिंग अनुपात में तीव्र गिरावट को पलायन या जन्म के वक्त जैविक रूप से प्राप्त लिंग अनुपात से सीधे नहीं समझा जा सकता बल्कि यह सीधे तौर पर कन्या भ्रूण हत्या का संकेतक है। गुजरात और हरियाणा में लिंग आधारित गर्भपात पर अपने अध्ययन में लीला विसारिया ने (2003, 'गुजरात और हरियाणा में लिंग आधारित गर्भपात: कुछ आनुभविक साक्ष्य', नई दिल्ली: हेल्थवॉच ट्रस्ट) दिखाया है कि बेहतर शिक्षित लोगों में लड़कों की चाह ज्यादा होती है जो भूस्वामी और उच्च जातियों के लोग होते हैं। उनका यह भी दावा है कि जैसे-जैसे बच्चों की जन्म की संख्या बढ़ती जाती है, लड़कियों की कमी भी बढ़ती जाती है और अंत में पैदा हुए बच्चे के रूप में लड़कियों की सबसे ज्यादा कमी पाई जाती है।

अन्य अध्ययनों में ग्रामीण-शहरी या उत्तरी-दक्षिणी के द्विआयामी विभाजन पर बात नहीं की गई है और इनमें लिंग आधारित गर्भपात के सांस्कृतिक कारणों को गिनाया गया है। तमिलनाडु और हरियाणा में सईद उनीशा, प्रकासम और सिन्हा के अध्ययन दिखाते हैं कि (भारत के दो इलाकों में लिंग आधारित गर्भपात के साक्ष्य) जहां गर्भपात की दर दोनों राज्यों में बढ़ रही है, वहीं इनके कारण भिन्न हैं। तमिलनाडु में जहां महिलाएं गर्भपात का चुनाव परिवार नियोजन के तरीके के रूप में करती हैं, वहीं हरियाणा में ज्यादातर गर्भपात लड़के की चाह में कराए जाते हैं। अध्ययन का निष्कर्ष है कि कुल गर्भपातों में लिंग आधारित गर्भपातों की संख्या 60 से 80 फीसदी के बीच होती है।

कई अन्य अध्ययन अमेरिका के प्रजनन उद्योग (स्पर्म सॉर्टिंग और प्री-इम्प्लेंटेशन जेनेटिक डायग्नोसिस) व बाहर से आयातित प्रौद्योगिकियों पर कम टैरिफ की ओर इशारा करती हैं। साबू जॉर्ज (2005, कन्या भ्रूण हत्या पर सीडब्ल्यूडीएस का अभियान) बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा लिंग चयन को मिले मूक समर्थन की ओर इशारा करते हैं: “निगमों को कन्या भ्रूण हत्या से लाभ होता है। अल्ट्रासाउंड मशीनें बेच कर बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने करोड़ों बनाए हैं। देश में ऐसी मशीनें बेचने वाली 15 कंपनियां हैं और जापान समेत कई अन्य देशों की कंपनियां हैं जो घरेलू बाजार में प्रवेश करना चाहती हैं।” अल्ट्रासाउंड स्कैनरों के उत्पादन

में भी नाटकीय बढ़ोतरी देखने में आई है।

एक ओर जहां प्रजनन प्रौद्योगिकी तक पहुंच सरकार द्वारा आसान बनाई गई है, वहीं कई अध्ययन पीसीपीएनडीटी कानून को लेकर लोगों में कम जागरूकता और लचर क्रियान्वयन की बात करते हैं।

ईसाइयों में सबसे अनुकूल लिंग अनुपात होने की एक वजह यह है कि अधिकतर ईसाई अनुसूचित जाति/जनजाति से आते हैं जिनमें बेहतर लिंग अनुपात होता है; सिखों में सबसे खराब लिंग अनुपात होता है और इसके बाद जैनी आते हैं।

एक अन्य खोज जन्म के क्रम और लिंग अनुपात के बीच प्रतिकूल रिश्ता है। क्रिश्चियन मेडिकल असोसिएशन ऑफ इंडिया द्वारा किया गया एक अध्ययन दिखाता है कि दिल्ली में तीसरे बच्चे के लिए जन्म के वक्त लिंग अनुपात, जब पहले दोनों बच्चे लड़कियां ही हों, चौंकाने वाला है जो प्रति 1000 लड़कों पर 219 लड़कियों का है। लड़कों की चाहत की एक और वजह छोटे परिवारों की बढ़ती इच्छा है।

### भारत में कन्या भ्रूण हत्या का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

जब से पहली बार महिलाओं की कमी की बात सामने आई, तब से इसे समझाने के लिए विभिन्न प्रस्थापनाएं और कारक सामने आए हैं। इसके कुछ संभावित कारण

महिलाओं की कम गणना, महिलाओं का बाहरी पलायन और इन सबसे बढ़ कर जन्म के वक्त पुरुषों की अधिकता है जिसका सीधा कारण कन्या भ्रूण हत्या है। जबकि कम गणना और बाहरी पलायन वैध कारण हो सकते हैं, इनसे होने वाली कमी मामूली हो सकती है। यानी कन्या भ्रूण हत्या को मुख्य वजह के रूप में बताया जा सकता है जिसके कारण भारतीय आबादी में आज 8 फीसदी महिलाओं की कमी है। कन्या भ्रूण हत्या को तो छोड़ दें, अकेले उपेक्षा ही महिलाओं की कमी को जन्म दे सकती है। बच्चियों की मौत में लिंग आधारित व्यय भी एक बड़ा कारक है (हैरिस-वाइट 2009: 129-130 इन गर्ल्स आर डिस्पोजेबल कमोडिटी इन इंडिया)।

हालिया रुझान, खासकर नब्बे के दशक के बाद की नवउदारवादी नीतियों ने बच्चियों की पहले से अरक्षित स्थिति को और बदतर किया है। उदारीकरण की नीतियों की तर्ज पर सरकारों ने स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण को बढ़ावा दिया है। इसका एक परिणाम इलेक्ट्रॉनिक चिकित्सा उपकरणों पर कम शुल्क के रूप में देखने में

आया है- सन 2000 में 43 फीसदी से 2005-06 में 24 फीसदी।

इस बात को सिद्ध करने के पर्याप्त साक्ष्य हैं कि प्रौद्योगिकीय नवाचारों ने कन्या भ्रूण हत्या को बढ़ाया है, जबकि इन्हें ज्यादा मानवीय उद्देश्यों से ईजाद किया गया था। अल्ट्रासाउंड का बढ़ता प्रयोग, जिसे अक्सर सोनोग्राफी कहते हैं तथा एम्नियोसेंटेसिस परीक्षण भ्रूण की लिंग जांच में इस्तेमाल होता है। चूंकि ये तकनीकें महंगी होती हैं, इसलिए इसे वहन कर सकने वाला समाज का उच्च तबका इनका इस्तेमाल करता है।

कई अध्ययनों और तमाम दबाव समूहों की रणनीति के बाद महिला संगठन सरकार को पीसीपीएनडीटी कानून लाने को बाध्य कर सके, लेकिन जैसा कि अक्सर सरकारी कानूनों के मामले में देखा जाता है, इसके प्रभावी क्रियान्वयन में राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी दिखती है। आपूर्ति तंत्र खराब है और सतर्कता प्रणाली की तकरीबन गैर-मौजूदगी के कारण कानून का न्यूनतम प्रभाव है और काफी कुछ हासिल किया जाना बाकी है।

## कन्या शिशु की नियति- होने और न होने के बीच

### भाग-2

#### लिंग चयन यानी नरसंहार

#### -साबू जॉर्ज

#### परिचय

भारत में बड़े पैमाने पर लिंग चयन और लिंग चयनित गर्भपात यानी कन्या भ्रूण हत्या का चलन है। एनएफएचएस-3, डीएलएचएस-3 और एसआरएस के हालिया आंकड़े बताते हैं कि 2001 के बाद से जन्म के समय लैंगिक अनुपात में पुरुषों की दर ज्यादा रही है। पिछले सात सालों में जन्म से पहले जितनी लड़कियों की हत्या की गई, उतनी तो युद्ध के वक्त यहूदियों की भी नहीं हुई थी। आने वाले दशक में एक अनुमान के मुताबिक भारत में हर साल 10 लाख

लड़कियां मारी जाएंगी। 2005-06 के आंकड़े बताते हैं कि भारत और चीन मिलकर एक साल में जितनी लड़कियां मारते हैं, उनकी संख्या अमेरिका में हर साल पैदा होने वाली लड़कियों से भी ज्यादा है।

हर साल जन्म से पहले 10 लाख लड़कियों को जान से मार देने के परिणाम जिंदा महिलाओं के लिहाज से बेहद विनाशक हैं। आने वाले वर्षों में महिलाओं के खिलाफ हिंसा अभूतपूर्व स्तरों तक बढ़ेगी। चीन में एक बच्चे के परिवार का मानक लागू होने के तीन दशक बाद आज 3 करोड़ 20 लाख महिलाओं की

## तालिका 1 - क्षेत्र और जनगणना के वर्ष के हिसाब से बाल लिंग अनुपात

जनगणना	कुल	ग्रामीण	शहरी
1981	962	963	931
1991	945	948	935
2001	927	934	906

कमी 20 से कम के आयु वर्ग में है। यह 2005 की जनगणना के आंकड़े हैं। यहां ऐसे गिरोह काम कर रहे हैं जो शहरी युवतियों को अगवा कर गांवों में बेच देते हैं और लिंग चयन की हिंसा को व्यापक स्वीकृति ने अगवा किए गए लड़कों का भी एक बाजार निर्मित किया है।

2001 में ऐसे कई राज्य थे जहां छह साल के आयु वर्ग में 1000 लड़कों पर 900 से कम लड़कियां थीं जबकि चार राज्यों पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और गुजरात में 800 से कम लड़कियां थीं। 1991 में 800 से कम लड़कियों वाली श्रेणी में कोई राज्य नहीं था। 1991 की तुलना में आज कुछ ही जिले हैं जहां बाल लिंग अनुपात 1000 लड़कों पर 950 लड़कियों से ज्यादा है।

### 2001 की जनगणना के मुताबिक बाल लिंग अनुपात के रुझान

सत्तर के दशक से ही महिलावादी विद्वानों और महिला कार्यकर्ताओं ने बड़े पैमाने पर लिंग चयन तकनीकों के दुरुपयोग के माध्यम से लड़कियों के सुनियोजित कत्ल की आशंका जताई थी, लेकिन इस देश ने इसकी उपेक्षा कर दी। यहां तक

कि 1991 की जनगणना में जब ऐसे संकेत मिल रहे थे जैसे कि एनएफएचएस सर्वे 1992-93 (पंजाब) और अन्य, विद्वानों ने लिंग चयन को संभावित कारण नहीं माना। अस्सी के दशक के मध्य में चलाए गए अल्पकालिक अभियानों जैसे महाराष्ट्र अभियान को छोड़ दें, तो मोटे तौर पर समूचे नागरिक समाज ने इसकी उपेक्षा की।

इस अभियान का सबसे बड़ा प्रभाव यह आया कि 1988 में महाराष्ट्र में पीएनडीटी कानून लागू कर दिया गया और बाद में सितंबर 1994 में इसे राष्ट्रीय कानून का दर्जा दिया गया। अगले छह साल तक इस कानून का लागू न हो पाना वास्तव में हम सभी पर एक दाग है जिन्हें पहले से ही इस दिशा में सक्रिय रहना चाहिए था।

जनांकक्षणविदों मरी भट्ट और इरुदयाराजन ने नब्बे के दशक के अंत में और 2000 की शुरुआत में जन्म के वक्त लिंग अनुपात घटने के प्रति आगाह किया था। जनगणना अधिकारी, विशेष तौर पर महापंजीयक श्री जे.के. बंठिया की आंकड़ों के व्यवस्थित विश्लेषण, कन्या भ्रूण हत्या के उभरते रुझान, और लिंग अनुपात के घटते आंकड़ों



पर काम करने के लिए सराहना की जानी चाहिए। 2001 की जनगणना के इन अधिकारियों का यह योगदान इस अर्थ में ऐतिहासिक है कि सरकार उस विषय के आयामों को अब स्वीकार करने को तैयार हो गई थी जिसे लंबे समय तक शिक्षाविद भी उपेक्षित करते रहे थे।

### राष्ट्रीय और राज्य स्तरीय रुझान

जनगणना ने माना था कि सीएसआर देश में 1981 के बाद के कुल लिंग अनुपात की तुलना में भी तेजी से घटा है। सिर्फ तीन राज्य/केंद्र शासित प्रदेश ऐसे थे जहां 1991 में 1000 लड़कों पर लड़कियों की संख्या 900 से कम थी लेकिन 2001 में ऐसे राज्यों की संख्या छह हो गई। 1991 से 2001 के बीच पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, गुजरात, चंडीगढ़ और महाराष्ट्र में सीएसआर में नाटकीय गिरावट देखने में आई है। पंजाब में यह आंकड़ा खतरनाक रूप से 798 पर पहुंच चुका है। इन राज्यों में शुरुआती लिंग जांच क्लीनिक स्थापित किए गए सत्तर के दशक के अंत और अस्सी के दशक के आरंभ में कन्या भ्रूणों का चयनित गर्भपात इन राज्यों में लोकप्रिय हुआ। कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्र में सीएसआर में गिरावट देखी गई है लेकिन यह कम है क्योंकि उत्तरी इलाकों में आने के एक दशक बाद इन राज्यों में लिंग जांच क्लीनिक अस्तित्व में आए।

कुल मिला कर भारत के संदर्भ में

देखें तो शहरी इलाकों में सीएसआर ग्रामीण इलाकों की तुलना में दोहरी गिरावट का शिकार हुआ है (15 अंकों के मुकाबले 29)। यह इसलिए है क्योंकि लिंग जांच तक पहुंच और उसका उपयोग शहरी इलाकों में ज्यादा है। सीएसआर आंकड़ों में काल के रुझान के आधार पर इस क्षेत्र में अग्रणी काम करने वाले डॉ. अग्निहोत्री कहते हैं कि शुरुआती गिरावट शहरी इलाकों में है जो ग्रामीण क्षेत्रों में कई साल बाद प्रसारित हुई, लेकिन एक बार जब लिंग जांच पर कोई प्रतिबंध नहीं रह जाता तो गांवों में शहरों के मुकाबले सीएसआर काफी तेजी से गिरता है। मसलन, पंजाब में जहां सत्तर के दशक से ही लिंग जांच क्लीनिक अस्तित्व में आए, आज शहरी और ग्रामीण आंकड़ों में मुश्किल से ही कोई फर्क नजर आता है। 25 वर्षों के दौरान मेडिकल पेशेवरों द्वारा लिंग जांच को आक्रामक तरीके से प्रचारित किया गया है और ग्रामीण इलाकों में यह चलन आए एक अब दशक होने को है।

### जिला स्तरीय रुझान

सीएसआर में सबसे बढ़िया प्रदर्शन वाले जिले सुदूर इलाकों में हैं जहां लिंग चयन प्रौद्योगिकी की पहुंच खराब है। भारत के 592 जिलों में सिर्फ आठ में लड़कियों की संख्या लड़कों की तुलना में ज्यादा है और इनमें तीन जिले अकेले कश्मीर में हैं। सबसे खराब प्रदर्शन वाले जिले पंजाब और हरियाणा में हैं जो कि निजी क्लीनिकों के केंद्र हैं। लेकिन

तालिका 2: अ.जा., अ.ज.जा. और सामान्य श्रेणियों के हिसाब से जिलावार सीएसआर वितरण की तुलना

श्रेणियाँ	अ.जा.	अ.ज.जा.	सामान्य
< 800	11	23	32
800-849	20	8	37
850-899	79	38	95
900-949	184	102	230
950-999	252	278	191
1000 +	24	91	8
कुल (जम्मू-कश्मीर के अलावा)	570	540	593

जम्मू कश्मीर और छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में भी कुछ ही मशीनों की मौजूदगी, जो आम तौर पर प्रति जिला 10 से भी कम है, लिंग अनुपात को 900 के नीचे ले जाने के लिए कफी है।

नमूना पंजीकरण प्रणाली (एसआरएस) भारत में जन्म के समय लिंग अनुपात आंकड़ों की सबसे ताजा सामग्री उपलब्ध कराती है। जन्म और मृत्यु के अनिवार्य पंजीकरण के बावजूद वास्तविक पंजीकरण संतोषजनक आंकड़ों से काफी पीछे है। इन संकेतकों पर विश्वसनीय और निरंतर आंकड़े प्राप्त करने के लिए पंजीयक महानिदेशक कार्यालय ने 1969-70 से एसआरएस का आरंभ किया जो फिलहाल 14 लाख परिवारों को कवर करता है जिसके तहत 70.1 लाख आबादी आती है। एसआरएस की सीमा यह है कि इससे सिर्फ अनुमान प्राप्त होते हैं। तीन साल के आंकड़ों को एक साथ लेकर बड़े राज्यों के लिए जन्म के समय लिंग अनुपात में पाए जाने वाले अंतर को औसत किया जाता है।

जन्म के समय 901 का लिंग अनुपात बताता है कि प्रति हजार लड़कों पर जन्म के वक्त 51 लड़कियों को जान से मार दिया जाता है। 2007 में कन्या भ्रूण हत्या की दर ऐसी थी कि अपने जन्म के पहले साल में पैदा हुई 1000 लड़कियों में 56 को जान से मार दिया जाता था।

पारंपरिक रूप से महिलाओं के जीवन के सबसे खतरनाक वर्ष शैशवकाल के ही होते हैं। लेकिन अनैतिक चिकित्सकों के लोभ ने भारतीय महिलाओं के लिए भ्रूण की अवस्था को सबसे खतरनाक बना डाला है। जन्म के समय लिंग अनुपात (एसआरबी) एक शहरी भारतीय लड़की के लिए 891 है जो ग्रामीण लड़कियों के मुकाबले उसके जीवन को ज्यादा जोखिम भरा बनाता है और यह शिशु मृत्यु दर (39) से भी ज्यादा है; इस तरह जन्म के पहले वर्ष में मारे जाने के मुकाबले भ्रूण में लड़की के मारे जाने का खतरा 56 फीसदी ज्यादा है।

## भारत में लिंग चयन का इतिहास

भारत में भ्रूण लिंग चयन की शुरुआत सत्तर के दशक में हुई। अमेरिका के प्रवासी गुजराती चिकित्सा उद्यमियों ने एमनयोसेंटेसिस का आरंभ किया। एम्स के वैज्ञानिकों द्वारा 1974 में प्रकाशित पहला वैज्ञानिक पर्चा भारतीय महिलाओं के लिए वरदान के रूप में लिंग चयन की वकालत करता है। कार्यकर्ताओं द्वारा जताई गई चिंताओं के बाद भारत सरकार ने ऐसे परीक्षणों पर सरकारी अस्पतालों में 1978 से ही प्रतिबंध लगा दिया जिसके बाद ऐसी सुविधाओं की कमान निजी हाथों में आ गई। उत्तर-पश्चिमी भारत में ऐसा पहला क्लीनिक अमृतसर में 1979 में खुला; इसके बाद हरियाणा और पंजाब के अन्य हिस्सों में क्लीनिक खुलने लग गए; महाराष्ट्र में इनका अस्तित्व अस्सी के दशक की शुरुआत में हुआ। 1981 से 1991 के बीच पंजाब में सीएसआर 925 से गिर कर 874 पर आ गया। अस्पतालों से इकट्ठा किए गए आंकड़ों के आधार पर जन्म के समय लिंग अनुपात में गिरावट पर पहला व्यवस्थित विश्लेषण लुधियाना के क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज ने 1994 में प्रकाशित किया।

### भारत सरकार की प्रतिक्रिया: पीएनडीटी कानून का गठन, 1994

1994 में संसद ने जन्म के पहले लिंग जांच के दुरुपयोग को रोकने के लिए पीएनडीटी कानून का गठन

किया। यह कानून जनवरी 1996 से अस्तित्व में आया, लेकिन इसे लागू नहीं किया गया। 1996 में बनाए गए नियम ऐसे थे कि इनके दायरे में 95 फीसदी अल्ट्रासाउंड मशीनें नहीं आती थीं, जिसने 1994 के कानून का मखौल बना डाला।

फरवरी 2004 में दायर एक जनहित याचिका के बाद सुप्रीम कोर्ट ने भारत सरकार और राज्यों को 4 मई, 2001 को पीएनडीटी कानून के कड़े क्रियान्वयन का निर्देश दिया। इसने कानून को संशोधित करने का भी निर्देश दिया ताकि इसके क्रियान्वयन में मजबूती लाकर लिंग चयन प्रौद्योगिकियों को कवर किए जाने का दायरा बढ़ाया जा सके। इसके बाद सरकार ने कानून को लागू करने के लिए कदम उठाए, जिसके तहत पहले दो सालों में 20,000 क्लीनिकों का पंजीकरण किया गया (2001-03, जो 2000 में याचिका दायर होने के वक्त 600 था) और 500 से ज्यादा अपंजीकृत मशीनों को जब्त किया गया; इस कानून के उल्लंघन में कई सौ मामले दायर किए गए।

स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने मूल पीएनडीटी कानून, 1994 में संशोधनों का एक समग्र सेट तैयार किया और संसद ने दिसंबर 2002 में संशोधन विधेयक पारित कर दिया। इनके विशिष्ट लक्षणों में गर्भधारण से पहले और बाद में विधियां (शुक्राणु और भ्रूण) और अन्य लिंग चयन विधियों के रूप में शामिल थीं जिसके तहत अल्ट्रासाउंड मशीनों का

पंजीकरण और स्कैन के रिकॉर्ड को रखना अनिवार्य था। कानून के उल्लंघन के खिलाफ दंड को भी बढ़ा दिया गया।

संशोधनों ने हमारे कानूनों को अंतरराष्ट्रीय घोषणापत्र के अनुकूल बना दिया - जैसे सीईडीएडब्ल्यू और सीआरसी - जिन पर भारत के दस्तखत हैं।

अक्टूबर 2008 तक कानून के तहत 34,793 क्लीनिकों का पंजीकरण हो चुका था। हालांकि अल्ट्रासाउंड करने पर भी अब भी नियमन नहीं है। यह एक चिंता का विषय है क्योंकि स्कैन मशीन का सबसे आम उपयोग भ्रूण के लिंग की जांच करना ही है। औद्योगिक सूत्रों के मुताबिक साल भर में 6000 अल्ट्रासाउंड मशीनों की बिक्री होती है जबकि सालाना पंजीकरण महज 4000 है। इससे पता चलता है कि पंजीकरण की प्रक्रिया 2003 के बाद लचर हुई है, जब से सुप्रीम कोर्ट में याचिका का निपटान हुआ।

आंकड़ों के हिसाब से देखें तो पता चलता है कि लिंग जांच के प्रत्येक 10000 आपराधिक मामलों में सिर्फ एक ही दर्ज किया जाता है। हम अब तक कानूनी दंड पर भी नहीं पहुंचे हैं। निचली अदालतों में मुकदमों की सुनवाई के चरित्र के मद्देनजर दंड की गुंजाइश तो दूर की चीज है। किसी डॉक्टर पर पहला दंडात्मक मामला 2006 में आया था। बाद में जिला अदालत ने दंड को वापस ले लिया।

## केंद्र सरकार की विफलता

केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय कानून को लागू करने को लेकर गंभीर नहीं है और इसके पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं। इसके क्रियान्वयन में सबसे गंभीर समस्या मंत्रालय का वह फैसला है जो अल्ट्रासाउंड क्लीनिकों के संचालन क जिम्मेदारी चिकित्सा अधिकारियों को देता है जबकि अधिकार जिलाधिकारी के पास होते हैं। इस दोहरेपन के अलावा जिलाधिकारी के पास पहले से ही कई जिम्मेदारियां होती हैं और तकनीकी समझदारी भी उसके पास कम ही होती है जिसका सीधा सा अर्थ है कि पीएनडीटी कानून हाशिये पर चला जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य मंत्रालय ने केंद्रीय निरीक्षण बोर्ड की पिछले 18 माह से कोई बैठक नहीं बुलाई है जबकि नियम हर छह महीने पर एक बैठक का है। इस तरह पीएनडीटी कानून के क्रियान्वयन में राज्यों के प्रदर्शन पर कोई निगरानी नहीं है तथा सुप्रीम कोर्ट के निर्देशों के मुताबिक इसकी कोई रिपोर्ट तैयार नहीं है। केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा 2008 में एकपक्षीय ढंग से की गई घोषणा कि महिला और बाल विकास मंत्रालय कानून के तहत सारी जिम्मेदारियों का निर्वाह करेगा, इसके बाद कई राज्य निरीक्षण बोर्ड और जिला परामर्श समितियों ने काम करना बंद कर दिया है और राष्ट्रीय जांच और निगरानी समिति भी निष्क्रिय हो चुकी है। 2006 में समिति को प्रच्छन्न हितों के चलते मेरठ में आपराधिक क्लीनिकों की पड़ताल

नहीं करने दी गई; और स्वास्थ्य मंत्रालय ने कानून के इस उल्लंघन को बिना कोई चुनौती दिए होने दिया।

इसके कारण राज्यों के स्तर पर निष्क्रियता आ गई है। पंजीकरण में गिरावट हुई है और बहुत संभव है कि 2007-08 में क्लीनिकों के पंजीकरण का लंबित नवीनीकरण इससे प्रभावित हो। (क्लीनिकों को पांच साल के लिए लाइसेंस दिया जाता है; आरंभ में तो कई हजार क्लीनिकों का पंजीकरण सुप्रीम कोर्ट के दबाव में हो सका)।

### भविष्य की उम्मीद: संभावनाएं

कुछ नागरिक समाज समूहों ने करोड़ों अजन्मी बच्चियों के अधिकारों को सुनिश्चित कर पाने में सरकार की विफलता पर उसे आड़े हाथों लिया है। अब सरकार और नागरिक समाज समूहों में किए जा रहे अभूतपूर्व प्रयासों ने उम्मीद जगाई है कि कानून को लागू किया जा सकता है और नागरिक समाज में कुछ ऐसी पहलू हो रही हैं जो उम्मीद बंधाती हैं और साथ मिल कर ये सुनिश्चित कर सकती हैं कि लड़कियों को भी जन्म लेने का हक है। सरकार में भी कई स्तरों पर कुछ लोग रहे हैं जो इस मुद्दे पर चिंतित रहे हैं। इनमें खम्मम/हैदराबाद, मुरैना/शिवपुरी, शिवपुरी/मंदसौर/रीवां के जिलाधिकारी शामिल रहे हैं जिन्होंने 2002 से 2009 के बीच कानून की ताकत का प्रदर्शन किया है। मध्य प्रदेश में वात्सल्य, तमिलनाडु में कासा, पंजाब में

वीएचएपी और अन्य संगठनों ने भी सराहनीय प्रयास किए हैं।

2001 के बाद हाल के वर्षों में जन्म के समय गिरते लिंग अनुपात पर मीडिया और समाज के कुछ तबकों में चलने वाली बहसें उत्साहजनक रही हैं। हालांकि कार्यकर्ताओं द्वारा चलाए जाने वाले इस अभियान को बाधित करने के लिए मेडिकल पेशेवरों ने कुछ कार्रवाइयां की हैं जो चाहते हैं कि लिंग चयन का प्रचार और उसे वैधता मिले। अनैतिक पेशेवर एजेंटों की नियुक्ति कर रहे हैं, कई स्थानों पर झोलाछाप डॉक्टरों को प्रोत्साहित कर रहे हैं और यहां तक कि राज्य मशीनरी के सदस्यों जैसे एएनएम और आंगनवाड़ी के सदस्यों को भी अपने यहां नियुक्त कर रहे हैं ताकि वे उनके लिए ग्राहक ला सकें।

### निष्कर्ष

देश के 600 से ज्यादा जिलों में कुछ में ही सुधार की संभावना है, लेकिन अधिकतर जिलों में गिरावट की ही आशंका है। कुल तस्वीर धुंधली नजर आती है। विभिन्न स्तरों जैसे राष्ट्रीय, राज्य, जिलास्तरीय और उपजिला स्तरीय निष्कर्षों में हमें समानता दिखाई देती है। शहरी/ग्रामीण, संपन्नता और जाति की लाइनों पर लिंग अनुपात की स्थिति अपेक्षित ही है। सीएसआर में गिरावट लिंग चयन के हमारे ज्ञान के अनुकूल है (जब एसडी शुरू किया गया, स्कैन मशीनों की उपलब्धता, मोबाइल की मौजूदगी)। यह सब कुछ अधिकतर जिलों में गिरते सीएसआर में लिंग चयन की भूमिका के साक्ष्य उपलब्ध करवाते हैं।

# 3

## बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण अधिकार

—मीरा शिवा

भारत सर्वाधिक कुपोषित देशों में एक है जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए था। मानव विकास रिपोर्ट के मुताबिक मानव विकास सूचकांक में भारत का स्थान 2007 में 128, 2006 में 126 और 2003, 2004 व 2005 में 127 था। अंतरराष्ट्रीय खाद्य नीति और अनुसंधान संस्थान (आईएफपीआरआई) ने भारत को वैश्विक भूख सूचकांक में 2007 में 94वें स्थान पर रखा था। एनएफएचएस-3 की रिपोर्ट के मुताबिक भारत में पैदा हुए 21.5 फीसदी शिशु कम वजन के होते हैं, हालांकि एचडीआर 2007 के मुताबिक यह आंकड़ा 30 फीसदी है। 1998-99 और 2005-06 के बीच हालांकि आईएमआर में एक फीसदी की गिरावट दर्शायी गई है,

फिर भी यह आंकड़ा अस्वीकार्य रूप से काफी ज्यादा है।

आठ फीसदी की उच्च विकास दर के साथ उम्मीद की जा रही थी कि भारत में बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण की स्थिति सुधारेगी। लेकिन कुछ स्थानों पर तो पोषण की स्थिति और भी बदतर हो गई जो दिखाती है कि बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण की हालत सुधारने के लिए उनकी माताओं के लिए ऐसे कदम उठाए जाने चाहिए जिनमें सार्वजनिक स्वास्थ्य और पोषण सुरक्षा को प्राथमिकता मिल सके, बजाय व्यापारिक हितों के। असमानताओं के साथ होने वाला आर्थिक विकास सभी के लिए बेहतरी का वाहक नहीं बन सकता है।

स्वास्थ्य, भोजन और साफ पीने का पानी जैसी बुनियादी सुविधाओं की कमी ही कुपोषण का कारण बनती है जिससे बार-बार संक्रमण होता है जो फिर पुराना हो जाता है। स्वास्थ्य सेवाओं तक बदतर पहुंच,

स्वास्थ्य को लेकर अज्ञान और साफ-सफाई को लेकर जागरूकता में कमी, खराब शौच सुविधाएं और यातायात सुविधाएं, कम क्रय शक्ति आदि इस समस्या को और गंभीर बनाते हैं।

**तालिका 1: पृष्ठभूमि के लक्षणों के हिसाब से शैशवकाल में मृत्यु दर प्रसव पूर्व, प्रसव के बाद, शैशवकाल में, पांच साल से कम आयु के बच्चों की मृत्यु दर पृष्ठभूमि के लक्षणों और रिहाइश के साथ, भारत 2005-06, और एनएफएचएस-2 व एनएफएचएस-1**

पृष्ठभूमि के लक्षण	प्रसव पूर्व मृत्यु दर	प्रसव के बाद मृत्यु दर	शैशव मृत्यु दर	बाल मृत्यु दर	पांच साल के नीचे मृत्यु दर
<b>शहरी शिक्षा</b>					
कोई शिक्षा नहीं	38.2	23.1	61.3	21.4	81.4
पांच साल से पहले	39.9	13.4	53.3	6.5	59.4
पांच से सात साल के बीच	31.4	16.7	48.1	7.5	55.2
आठ से नौ साल के बीच	25.8	5.4	31.2	4.7	28.7
दस से ग्यारह साल के बीच	16.2	8.3	24.5	4.3	28.7
बारह साल पूरा या उससे अधिक	19.4	4.2	23.6	4.7	28.2
<b>धर्म</b>					
हिन्दू	30.9	13.3	44.3	10.9	54.7
मुस्लिम	21.6	13.9	35.5	9.6	44.8
ईसाई	11.3	5.0	16.3	9.4	25.5
सिख	-	-	-	-	-
बौद्ध/नव-बौद्ध	-	-	-	-	-
अन्य	-	-	-	-	-
<b>जाति/जनजाति</b>					
अनुसूचित जाति	35.0	15.7	50.7	15.5	65.4
अनुसूचित जनजाति	29.0	14.8	43.8	10.4	53.8
अन्य पिछड़ा वर्ग	26.4	15.8	42.2	12.9	54.5
अन्य	27.5	8.6	36.1	6.2	42.1

<b>संपन्नता सूचकांक</b>					
निचले	39.4	25.4	64.8	29.2	92.1
द्वितीय	40.8	21.6	6 2.4	21.5	82.5
मध्यम	32.0	17.8	49.8	16.4	65.3
चतुर्थ	31.3	14.9	46.2	8.0	53.9
उच्चतम	21.1	6.3	27.4	5.6	32.8
कुल	28.5	13.0	41.5	10.6	51.7
एनएफएचएस-2	31.7	15.4	47.0	16.9	63.1
एनएफएचएस-1	34.1	22.0	56.1	19.6	74.6
<b>ग्रामीण</b>					
कोई शिक्षा नहीं	47.0	24.1	71.1	27.8	97.0
पांच साल से पहले	50.5	18.6	69.2	15.8	83.8
पांच से सात साल के बीच	35.8	14.4	50.1	13.3	62.8
आठ से नौ साल के बीच	35.1	11.6	46.7	6.1	52.5
दस से ग्यारह साल के बीच	35.0	10.5	45.5	3.0	48.3
बारह साल या उससे अधिक	20.0	9.6	29.6	2.3	31.8
<b>धर्म</b>					
हिन्दू	43.3	19.7	63.0	20.9	82.5
मुस्लिम	40.1	20.3	60.4	23.1	82.2
ईसाई	42.0	12.8	54.8	12.9	67.0
सिख	34.3	11.7	46.0	8.7	54.3
बौद्ध/नव-बौद्ध	(36.7)	(10.0)	(46.6)	(17.3)	(63.2)
अन्य	44.7	42.0	86.7	49.2	131.7
<b>जाति/जनजाति</b>					
अनुसूचित जाति	49.6	21.4	71.0	25.6	94.7
अनुसूचित जनजाति	40.9	23.0	63.9	38.3	99.8
अन्य पिछड़ा वर्ग	42.1	19.1	61.1	18.7	78.7
अन्य	38.1	17.5	55.7	13.3	68.2
<b>संपन्नता सूचकांक</b>					
निचला	48.8	21.9	70.7	32.5	100.9



द्वितीय	44.9	24.2	69.2	22.8	90.4
मध्यम	41.2	19.4	60.6	13.8	49.1
चतुर्थ	32.4	9.9	42.3	7.1	49.1
उच्चतम	24.3	9.2	33.6	2.7	36.2
कुल	42.5	19.7	62.2	21.0	82.0
एनएफएचएस-2	46.7	26.6	73.3	32.8	103.7
एनएफएचएस-1	52.9	32.2	85.0	37.6	119.4
<b>कुल शिक्षा</b>					
कोई शिक्षा नहीं	45.7	24.0	69.7	26.9	94.7
पांच साल पूरा नहीं	48.4	17.6	66.0	13.8	78.8
पांच से सात साल तक	34.5	15.1	49.5	11.5	60.5
आठ से नौ साल तक	32.0	9.5	41.5	5.6	46.9
दस से ग्यारह साल तक	26.9	9.6	36.5	3.6	40.0
बारह या इससे अधिक साल	19.6	6.3	25.9	3.9	29.7
<b>धर्म</b>					
हिन्दू	40.3	18.2	58.5	18.5	76.0
मुस्लिम	34.1	18.2	52.4	18.6	70.0
ईसाई	31.5	10.1	41.7	11.6	52.8
सिख	35.9	9.7	45.6	6.8	52.1
बौद्ध/नव-बौद्ध	43.0	9.8	52.8	17.1	69.0
अन्य	43.3	41.4	84.6	50.4	130.7
<b>जाति/जनजाति</b>					
अनुसूचित जाति	46.3	20.1	66.4	23.2	88.1
अनुसूचित जनजाति	39.9	22.3	62.1	35.8	95.7
अन्य पिछड़ा वर्ग	38.3	18.3	56.6	17.3	72.8
अन्य	34.5	14.5	48.9	10.8	59.2
<b>संपन्नता सूचकांक</b>					
निचले	48.4	22.0	70.4	32.3	100.5
द्वितीय	44.6	24.0	68.5	22.6	89.6
मध्यम	39.3	19.1	58.3	14.4	71.9

चतुर्थ	31.9	12.1	44.0	7.5	51.2
उच्चतम	22.0	7.2	29.2	4.8	33.8
कुल	39.0	18.0	57.0	18.4	74.3
एनएफएचएस-2	43.4	24.2	67.6	29.3	94.9
एनएफएचएस-1	48.6	29.9	78.5	33.4	109.3

स्रोत: एनएफएचएस-3, अध्याय 7, शिशु और बाल मृत्यु दर

शिशु मृत्यु दर के कई कारणों में दो मातृ और शिशु कुपोषण होते हैं। औसत हालांकि दोनों कारणों के बीच ज्यादा अंतर प्रदर्शित नहीं करते। जन्म और मृत्यु पंजीकरण की खराब दर के कारण तथा कुछ मौसमी बीमारियों के मद्देनजर दुर्गम क्षेत्रों में अरक्षित तबकों के लोगों की कई मौतों की खबर तक नहीं आ पाती है।

गर्भवती माताओं के पोषण की स्थिति को सुधारने के लिए चलाई गई योजनाओं - जैसे राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना (एनएमबीएस) - जहां गरीबी रेखा से नीचे की गर्भवती माताओं को पोषण आवश्यकताएं पूरी करने के लिए 1000 रुपए दिए जाने का प्रावधान है - का भी सही ढंग से क्रियान्वयन नहीं हो पाता। जननी सुरक्षा योजना बीपीएल श्रेणी की महिलाओं के संस्थागत प्रसव के लिए बनाई गई है।

विभिन्न जातियों और धर्मों के लोगों में गरीब और अमीर तथा शहरी और ग्रामीण के बीच के अंतर काफी महत्वपूर्ण हैं और इन इलाकों में बच्चों की पोषण स्थिति पर खासा असर डालते हैं। दुनिया भर में कम वजन वाले बच्चों में जबरदस्त असमानताएं सबसे ज्यादा

दक्षिण एशिया में देखने को मिलती हैं। अरक्षित और प्रभावित तबकों की पहचान के लिए ऐसे में लैंगिक, सामाजिक और आर्थिक असमानताओं के आधार पर श्रेणीबद्ध आंकड़े आवश्यक हो जाते हैं ताकि इनकी स्वास्थ्य आवश्यकताओं को प्राथमिकता देते हुए कारगर कार्रवाई की जा सके।

सबसे बड़ा मारक शत्रु हैजा: हैजा अब भी बच्चों की मौत का सबसे बड़ा सबब बना हुआ है और यह स्वच्छ पेयजल की अनुपलब्धता से जुड़ा है। पानी का गिरता स्तर, सूखते जल स्रोत और बाढ़ स्वच्छ पेयजल तक पहुंच को और बदतर बनाते हैं।

शहरों में नालियों के पानी से पेयजल में संक्रमण हैजा व मल संक्रमण फैलाता है, जैसे मियादी बुखार, पैराटाइफाइड, कॉलरा, हेपटाइटिस, अमीबियोसिस और हेलमिथियासिस।

हैजा से होने वाली पानी की कमी के चलते कई बच्चों की मौत हो जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के मुताबिक ओआरएस के घोल से सिर्फ 50 फीसदी हैजा के मामलों का ही उपचार किया जा

सका है, जो या तो घर में तैयार किए जाते हैं या बाजार में 6 से 10 रुपये के बीच में मिलते हैं। (राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत सस्ते पैकेटों को निशुल्क दिए जाने का प्रावधान है।)

अस्सी फीसदी स्वास्थ्य सेवाएं निजी हाथों में होने और इनकी खराब गुणवत्ता के कारण हैजे से होने वाली मौतें इन सुविधाओं तक पहुंचने के बाद भी हो जाती हैं। झुग्गियों में चिकित्सीय सुविधाएं अप्रशिक्षित चिकित्सकों द्वारा दी जाती हैं; हालांकि लोग उनकी सेवाएं लेना जारी रखते हैं क्योंकि वे पहुंच के भीतर होते हैं, किफायती होते हैं जबकि वे शायद ही कभी राहत दे पाते हों, बजाय और जटिलताएं ही पैदा करते हैं।

स्वच्छ पेयजल तक बदतर होती पहुंच के साथ गरीबों को खाने के लिए सुरक्षित भोजन भी नहीं मिल पाता। खाद्यान्न की बढ़ती कीमतों, आजीविकाओं के नाश, कम होती क्रय शक्ति और जलवायु परिवर्तन ने कुल मिला कर बाढ़, सूखे और बलपूर्वक पलायन को जन्म दिया है जिसने संक्रमण और कुपोषण के प्रति अरक्षितता में इजाफा ही किया है।

**कुपोषण:** भारत में दुनिया के करीब 40 फीसदी कुपोषित बच्चे रहते हैं। एनएफएचएस-3 के आंकड़े दिखाते हैं कि तीन साल से नीचे के 46 फीसदी बच्चे कम वजन के हैं, 38 फीसदी बौने हैं, 19 फीसदी के वजन और लंबाई में असंतुलन है।

दुनिया में कम वजन वाले बच्चों में 40 फीसदी भारत में है। भारत में कुपोषण सब-सहारन अफ्रीका के स्तरों से भी ज्यादा है।

कुपोषण न सिर्फ शारीरिक विकास को प्रभावित करता है, बल्कि ज्ञानात्मक क्षमता को भी प्रभावित करता है और संक्रमण के प्रति अरक्षितता को बढ़ाता है जिससे जीवन भर स्वास्थ्य खराब रहता है। ये बच्चे न सिर्फ कम उम्र में मौत का शिकार होने के प्रति नाजुक होते हैं, बल्कि “.....जो बचते हैं उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता खराब हो जाती है। ये बच जाने वाले बच्चे मधुमेह या दिल के रोग जैसी पुरानी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं।”

छह से 35 माह के बीच करीब अस्सी फीसदी बच्चे एनीमिक होते हैं; इसके अलावा बचपन में खून की कमी के मामलों में वृद्धि सिर्फ गरीबों तक ही सीमित नहीं है। इसकी वजहों में माताओं में खून की कमी, विलांबित और अपर्याप्त पूरक पोषण, पोषण जागरूकता के अभाव में लौह तत्व वाले भोजन का कम उपभोग, हेलमिंथियासिस, आंत में कीड़े लगाना, अस्वच्छ पानी के कारण बार-बार होने वाला हैजा आदि शामिल हैं। भोजन की बढ़ती कीमतें निश्चित तौर पर एक कारण है; सब्जियों और फलों की कीमतें आसमान छू रही हैं और हरे साग जैसे बथुआ और चौराई जो पहले गेहूं के खेतों में ऐसे ही उग आया करते थे, उन्हें खरपतवार मान कर उन पर खरपतवार नाशक छिड़क

तालिका 2: भारत और उसके प्रमुख राज्यों में तीन साल तक के बच्चों में बौनापन/रुग्णता/कम वजन

भारत/ चुनिंदा राज्य	प्रमुख संकेतक			
	तीन साल से कम उम्र के बौनेपन के शिकार बच्चे (फीसदी में)		तीन साल से कम उम्र के रुग्णता के शिकार बच्चे (फीसदी में)	
	एनएफएचएस-3 <sup>क</sup>	एनएफएचएस-2 <sup>ख</sup>	एनएफएचएस-3 <sup>क</sup>	एनएफएचएस-2 <sup>ख</sup>
भारत	38.4	45.5	19.1	15.5
असम	42.3	50.2	13.1	13.3
बिहार	42.3	54.9	27.7	19.9
छत्तीसगढ़	45.4	57.9	17.9	18.5
गुजरात	42.4	43.6	17.0	16.2
हिमाचल प्रदेश	26.6	41.3	18.8	16.9
जम्मू और कश्मीर	27.6	38.8	15.4	11.8
झारखंड	41.0	49.0	31.1	25.4
कर्नाटक	38.0	36.6	17.9	20.0
केरल	21.1	21.9	16.1	11.1
मध्य प्रदेश	39.9	49.0	33.3	20.2
महाराष्ट्र	37.9	39.9	14.6	21.2
उड़ीसा	38.3	44.0	18.5	24.3
पंजाब	27.9	39.2	9.0	7.1
राजस्थान	33.7	52.0	19.7	11.7
तमिलनाडु	25.1	29.4	21.5	19.9
उत्तर प्रदेश	46.0	55.7	13.5	11.2

स्रोत: (क) एनएफएचएस-3 तथ्यपत्रक (2005-06), (ख) एनएफएचएस-2 (1998-99)

दिया जा रहा है। ये चीजें शहरी और ग्रामीण लोगों के भोजन में से गायब हो रही हैं।

गेहूं और चावल का प्रसंस्करण मौजूद पोषण तत्वों की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। चावल की पॉलिशिंग और मिलों में बनने वाले आटे के कारण उनमें से अनिवार्य अमीनो एसिड निकल जाते हैं। पोषक तत्वों को समाप्त करने की इस प्रक्रिया को नीतिगत स्तर

पर संबोधित किए जाने की जरूरत है।

बच्चों में पोषण के स्तर को बढ़ाने के लिए स्वास्थ्य मंत्रालय अपनी भूमिका को सिर्फ माइक्रो न्यूट्रिएंट तक ही सीमित देखता है, जैसे आयरन, फोलिक एसिड और विटामिन ए (देखें मंत्री का लोकसभा में जवाब, 2 जनवरी 2008)। महिला और बाल विकास मंत्रालय ने शिशुओं और छोटे बच्चों

के लिए राष्ट्रीय पोषण नीति (1993) और राष्ट्रीय पोषाहार कार्य योजना (1995) पर दिशनिर्देश जारी किए हैं; इसके बाद 2003 में राष्ट्रीय पोषाहार मिशन का गठन किया गया।

स्तनपान: जन्म के पहले घंटे में सिर्फ 23 फीसदी बच्चों को ही स्तनपान मिल पाता है और सिर्फ 46 फीसदी अगले छह महीनों तक मां के दूध पर ही निर्भर रहते हैं, जैसा कि सुझाव है। सिर्फ स्तनपान रोजाना की पोषण आवश्यकताओं को पूरा करता है और हैजा, निमोनिया व सेप्सिस के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करता है। जन्म के एक घंटे के भीतर स्तनपान शुरू करने से मृत्यु दर एक-तिहाई कम हो जाती है। यदि सभी बच्चों को छह महीने तक सिर्फ स्तनपान पर ही रखा जाए, तो पांच साल के नीचे होने वाली 13-15 फीसदी मौतों को रोका जा सकता है। सातवें महीने से पूरक भोजन की शुरुआत बच्चों में एनीमिया को रोकने में सक्षम है और मौत का भी जोखिम 6 फीसदी तक घट जाता है।

### खाद्य संकट और कॉरपोरेट हितैशी समाधान

आज दुनिया में जिस तरह का खाद्य संकट मौजूद है, इसके कॉरपोरेट समाधानों को काफी आक्रामक तरीके से हम पर थोपा जा रहा है। एक ऐसा ही हल ग्लोबल अलायंस फॉर इम्प्रूव्ड न्यूट्रीशन (गेन) स्पष्ट तौर पर अपने उद्देश्य बताता है, “विकासशील

देशों में बाजार का विस्तार” और “नियामकों के अनुकूल वातावरण तैयार करना”। इसमें जोर स्वास्थ्य और पोषण के बजाय बाजारों पर है। यह खाद्य संकट की जड़ को संबोधित नहीं करता - यानी अन्यायिक कृषि और व्यापार नीतियां।

खाद्य संकट विश्व बैंक व विश्व व्यापार संगठन जैसे संस्थानों द्वारा अपनाए गए समझौतों और नीतियों से काफी करीबी तौर पर जुड़ा है। ढांचागत समायोजन कार्यक्रम (सैप) के अंतर्गत अखाद्य फसलों के निर्यात पर ध्यान ने इस संकट को और बढ़ाया है। विशेष आर्थिक क्षेत्रों (सेज) और अन्य औद्योगिक परियोजनाओं के लिए कॉरपोरेट अनुकूल नीतियों के समर्थन से बहुफसली उर्वर जमीनों की लूट ने खेती के लिए उपलब्ध जमीन पर दबाव को और ज्यादा बढ़ा दिया है।

राष्ट्रीय स्तर पर माताओं और बच्चों के लिए पोषण पर प्रभाव डालने वाले तथा खाद्यान्न की उपलब्धता व किफायती दामों को प्रभावित करने वाले प्रमुख नीतिगत कदम निम्न हैं:

- बीज कानून, 1988 का लाया जाना, जिसने बीज क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय निगमों जैसे मोंसेंटो और कारगिल के प्रवेश को सक्षम बनाया है।
- खाद्य सुरक्षा और मानक कानून (एफएसएस कानून) को लाया जाना, जिसने 2003 के आईएमएस कानून को खत्म

करने की कोशिश की, हालांकि बाल स्वास्थ्य और अधिकार समूहों के विरोध के कारण आईएमएस कानून को रोकना पड़ा।

- राष्ट्रीय जैव-प्रौद्योगिकी नियामक प्राधिकरण कानून को लाया जाना, जो लागू किए जाने के अंतिम चरण में है। यह कानून जैव-प्रौद्योगिकी उद्योग को प्रसारित करने के साथ “सुरक्षा” और “नियामक” पहलुओं के लिए भी जिम्मेदार होगा।

खाद्य निगमों द्वारा बच्चों के लिए प्रसंस्कृत भोजन का आक्रामक प्रसार काफी चिंता का विषय है जो आईसीडीएस और मिड डे मील योजनाओं के माध्यम से बच्चों के भोजन के बाजार पर आंख लगाए है। फुर्टोक्स कॉर्न सीरप, जीएम कॉर्न का डोरिटोस, चीनी और नमक से भरे स्नैक्स जैसे पदार्थों ने एक अन्य किस्म के कुपोषण को जन्म दिया है- मोटापा, तनाव और यहां तक कि बच्चों में मधुमेह।

**प्रोबायोटिक्स:** छह साल के नीचे के बच्चों पर प्रोबायोटिक्स का परीक्षण जारी है। चूंकि छह महीने तक बच्चों के लिए स्तनपान का सुझाव है, इसलिए इसके लिए कोई तर्क जायज नहीं है। इसकी आक्रामक बिक्री की जा रही है। इसके प्रसार के पीछे एक ऐसा शब्द है जो सुनने में कहीं वैज्ञानिक जान पड़ता है “लैक्टोबैसिलस”, जो बड़ी आसानी से दही में मिल जाता है। यह उसी तरह है जैसे विटामिन डी

के रूप में ग्लूकोज की बिक्री, जबकि सूरज की रोशनी से पर्याप्त विटामिन डी मिलता है।

**फोर्टिफाइड फूड और माइक्रोन्यूट्रिएंट:** फोर्टिफाइड फूड और माइक्रोन्यूट्रिएंट की बिक्री के लिए एक ओर जहां कहीं आक्रामक रवैया अपनाया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर स्थानीय स्तर पर उपलब्ध पोषक भोजन पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसमें रागी मंडुआ जैसे भोजन के प्रति पोषण की जागरूकता फैलाने की जरूरत है जिसमें पर्याप्त कैल्शियम होता है जो 100 ग्राम में 344 एमजी है। ऐसे ही रामदाना में प्रति सौ ग्राम 397 एमजी कैल्शियम होता है और 4 ग्राम प्रोटीन। ड्रमस्टिक के पत्ते, फेनुग्रीक, चौराई व बथुआ आदि सभी लौह तत्वों से पुष्ट होते हैं। (राष्ट्रीय पोषण संस्थान, 2007)।

## कीटनाशक और रसायन

बच्चों को रसायन मुक्त सुरक्षित वातावरण, स्वच्छ भोजन और पानी का अधिकार है। लेकिन कई ऐसे मामले आए हैं जहां बच्चों का अत्यधिक रसायन से साक्षात्कार हुआ है जिससे कई मौतें हुई हैं और कई को शारीरिक संक्रमण हुए हैं। मसलन, केरल में एंडोसल्फान का मामला एक है जिसके कारण विकृत बच्चे जन्म लेने लगे। इसका छिड़काव काजू की फसल पर किया जाता था जिससे जल स्रोत संक्रमित हो गए। एक अन्य उदाहरण भोपाल गैस कांड का है जिसकी दूसरी पीढ़ी के बच्चे भी

उसका शिकार हो रहे हैं। यहां मिथाइल आइसोसायनेट गैस का रिसाव हुआ था।

इन जहरीले पदार्थों के प्रति बच्चे वयस्कों के मुकाबले ज्यादा संवेदनशील हैं। इनकी कम मात्रा भी असर डाल सकती है चूंकि ये विकास की अवस्था में होते हैं।

## दवाएं और बच्चे

एक ओर जहां निजी अस्पतालों और नर्सिंग होम की संख्या बढ़ी है, एनआरएचएम के तहत सेवाओं, सरकारी स्वास्थ्य सेवा केंद्रों और आंगनवाड़ी केंद्रों का भी विस्तार किया जा रहा है ताकि बच्चों की स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं को संबोधित किया जा सके।

बच्चों की अधिकतर चिकित्सीय समस्या संक्रमण से जुड़ी होती है - बुखार, हैजा, सांस का संक्रमण, मलेरिया, त्वचा के रोग, इंपेटिगो इत्यादि। बच्चों के अधिकतर स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं ने, खासकर शहरी झुग्गियों, ग्रामीण और आदिवासी इलाकों में, कोई प्रशिक्षण नहीं लिया हुआ है। एक अन्य समस्या बीमारी की गलत पहचान और दवाओं के गलत इस्तेमाल से जुड़ी है। इसके अलावा कई दवाओं में बच्चों के हिसाब से खुराक नहीं बनाई जाती। क सिरप में एंटीहिस्टामाइन और एंटीबायोटिक की मात्रा ज्यादा होती है जो बच्चों के लिए वर्जित है, लेकिन इन्हें बच्चों को धड़ल्ले से दिया जाता है। इनके लगातार इस्तेमाल से बच्चे एंटीबायोटिक के प्रति प्रतिरोधी बन जाते हैं। विश्व

स्वास्थ्य संगठन ने बच्चों के लिए दवाओं के तर्कसम्मत प्रयोग के विषय को मान्यता दी है और इसकी स्वास्थ्य सभा में 2007 में इससे जुड़ा एक संकल्प भी पारित किया गया।

भ्रूणों में विकास पर असर डालने वाली दवाओं का प्रयोग अब भी जारी है।

नए किस्म के वायरल बुखार और पुराने बुखारों की भी पहचान नहीं हो सकी है। स्थानीय चिकित्सक इनकी पहचान नहीं कर पाते और खून की जांच महंगी है तथा चुनिंदा राष्ट्रीय संस्थानों में ही उपलब्ध है। हजारों बच्चे जापानी बुखार और प्लास्मोडियम फैलिसपैरम से मर चुके हैं और हाल के वर्षों में ये बीमारियां कुछ इलाकों में महामारी का रूप लेती जा रही हैं। मलेरिया रोधी दवाओं के प्रति बढ़ती प्रतिरोधी क्षमता को प्रमुख सार्वजनिक स्वास्थ्य समस्या के रूप में अब तक नहीं पहचाना गया है।

चेचक का टीका निश्चित तौर पर चेचक को मिटाने में कामयाब रहा। इसके अलावा कुछ अन्य टीके- जैसे टीबी के खिलाफ बीसीजी, डिफ्थीरिया के खिलाफ डीपीटी, कुकुर खांसी और टिटनस का टीका, पोलियो की दवा और मीजल्स का टीका आदि सार्विक टीकाकरण कार्यक्रम (यूआईपी) का हिस्सा बन चुके हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र की तीन टीका निर्माण इकाइयों को 'बंद' करने (सेंट्रल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पास्वर

इंस्टिट्यूट ऑफ इंडिया और बीसीजी वैक्सिन लैबोरेटरी) का कदम सार्वजनिक स्वास्थ्य से जुड़े समुदाय के लिए चिंता का विषय है। इस 'बंदी' के बाद ही निजी खिलाड़ियों का आना शुरू हुआ; शुरू में इन्होंने सार्वजनिक कंपनियों के ही दामों पर टीकों की आपूर्ति की बात कही, बाद में इन्होंने 60-70 फीसदी दामों में वृद्धि की मांग कर डाली।

इस 'बंदी' ने कुछ अनिवार्य दवाओं की कमी भी पैदा की। स्वास्थ्य पर संसद की स्थायी समिति ने फरवरी 2008 में कहा कि 2008-09 में 10 करोड़ खुराकों की कमी पड़ गई थी। जुलाई 2009 में स्वास्थ्य मंत्रालय ने बताया कि 2008-09 में लक्षित टीकाकरण में पिछले तीन साल के औसत के मुकाबले 10 फीसदी की कमी आई है।

## निष्कर्ष

बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण की जरूरत को पर्याप्त गंभीरता से संबोधित नहीं किया जा रहा है। अन्यायपूर्ण अंतरराष्ट्रीय व्यापार संधियों ने बच्चों का वर्तमान और भविष्य और ज्यादा असुरक्षित कर डाला है

- चाहे वह उनके भोजन के अधिकार का मामला हो या फिर पानी, दवा, चिकित्सा सुविधा, अस्तित्व, आश्रय या शांति का अधिकार। निर्णय प्रक्रिया में कॉर्पोरेट हितों का खयाल रखा जा रहा है जहां सरकारें, निगम और अन्य इस प्रस्थापना पर एक साथ हाथ मिला चुके हैं कि बाजार ही सर्वश्रेष्ठ समाधान दे सकता है तथा प्रगति और विकास के लिए प्रतिस्पर्धा अच्छी होती है।

स्वावलंबी समाधानों और विकल्पों को धीरे-धीरे नष्ट किया जा रहा है और बुनियादी जरूरतों की उपेक्षा कर लोगों की निर्भरता को बढ़ाया जा रहा है।

बच्चों के स्वास्थ्य का मसला पोलिया की बूंदों या विटामिन ए के वितरण से कहीं ज्यादा व्यापक है जहां नियमित तौर पर टीकाकरण को सुनिश्चित करना, सुरक्षित किफायती पोषक भोजन की उपलब्धता सुनिश्चित करना, दवाओं, टीकों आदि का तर्कसम्मत उपयोग, तर्कसम्मत चिकित्सा सेवा और समग्र प्राथमिक चिकित्सा, सुरक्षित पेयजल, स्वच्छ वातावरण व स्वास्थ्य को खतरों से सुरक्षा आदि हैं।



# 4

## बदलते समाजार्थिक और राजनैतिक परिदृश्य में बाल सेवाओं पर पुनर्विचार

—नीता एन

### परिचय

परिवार के ढांचे में बदलाव और घर के बाहर मजदूरी वाले काम में महिलाओं के प्रवेश के संदर्भ में छोटे बच्चों की देखभाल को अब ईसीसीडी कार्यक्रम के एक अंतर्निहित घटक के रूप में मान्यता मिल चुकी है। ज्यादा से ज्यादा महिलाओं के श्रम बाजार में आने तथा एकल परिवारों के बढ़ते चलन ने छोटे बच्चों की देखभाल के लिए गुणवत्तापूर्ण विकल्प की मांग बढ़ाई है।

पर्याप्त प्रावधानों के अभाव में परिवार अपने बच्चों की देखभाल के लिए असंतोषजनक उपायों को अपनाते हैं। छोटे बच्चों

को या तो अकेले या फिर बड़े भाई-बहनों के साथ छोड़ दिया जाता है। पितृसत्तात्मक कसौटियों पर इस बड़े बच्चे को स्कूल से दूर रखा जाता है ताकि वह छोटे भाई-बहन का ध्यान रख सके जबकि वह खुद एक छोटा बच्चा होता है जिसे देखभाल और सुरक्षा की जरूरत होती है। कई महिलाएं अपने बच्चों को अपने कार्यस्थलों पर ले जाती हैं और असुरक्षित स्थितियों में उन्हें छोड़ देती हैं। कुछ अन्य महिलाएं बच्चों की देखभाल के लिए पड़ोसियों या रिश्तेदारों अथवा ऐसे ही किसी अनौपचारिक इंतजाम का सहारा लेती हैं जबकि कुछ अन्य इसके लिए घरेलू दाइयों को रखती हैं और उसके लिए पैसे देती हैं।

## देखभाल: सामाजिक और राजनीतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य

आम सामाजिक समझदारी यह है कि बच्चा संभालने की जिम्मेदारी परिवार की है और उसमें भी खासकर महिलाओं की। राज्य के नीतिगत ढांचे के तहत बच्चों की देखभाल के मामले पर बहुत कम विचार किया गया है। यह मान लिया गया है कि जहां पारिवारिक ढांचा होगा और महिलाएं/माताएं मौजूद होंगी, वहां वे इस काम का जिम्मा संभालने को तैयार और सक्षम होंगी। बच्चों की देखभाल को निजी पारिवारिक और महिलाओं की जिम्मेदारी से जोड़ कर देखा जाता है। इसीलिए यह मुद्दा बाल विकास पर अधिकतर बहसों में गायब रहता है या फिर कामकाजी माताओं के मुद्दे के रूप में इसका उल्लेख मिलता है।

बच्चों की देखभाल पर राज्य प्रायोजित कार्रवाई के सबसे करीब सामाजिक नीति और श्रम के नियम आते हैं। सिर्फ वहां जहां राज्य नियोक्ता की भूमिका में हो अथवा नरेगा जैसे गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों में परिवार से हट कर देखभाल सुविधाओं को नियमों, संस्थागत रूपों अथवा अनुदान के माध्यम से संबोधित किया गया है। आईसीडीएस कार्यक्रम, जो विशेष तौर पर छह साल के नीचे के बच्चों के कल्याण के लिए बनाया गया है, बच्चों की देखभाल के पहलू पर कोई ध्यान नहीं देता अथवा बेहद कम ध्यान देता है।

इसके बावजूद देखभाल सेवाओं की मांग बढ़ गई है जिसे कुकुरमुत्ते की तरह उग आए बाजार आधारित डे केयर सेंटर्स और प्री-नर्सरी स्कूलों के रूप में देखा जा सकता है। अब ये केंद्र गांवों तक पहुंच गए हैं। इनकी मांग घरेलू कामगारों की बढ़ती मांग के रूप में भी देखी जा सकती है (जिनकी संख्या 1999-2000 से 2004-05 के बीच तीन गुना से ज्यादा बढ़ गई है)।

निजी डे केयर केंद्रों और घरेलू कामगारों की उच्च लागत के कारण यह अधिकांश महिलाओं की पहुंच से ही बाहर हैं। इसके अलावा इन सेवाओं की गुणवत्ता असूचित व अप्रशिक्षित स्टाफ तथा अपर्याप्त बुनियादी ढांचे के चलते मुश्किल से ही मानकों पर खरा उतरती है।

माताओं और छोटे बच्चों दोनों को ही सहयोग करने के लिए प्रभावी डे केयर सेवाएं बेहद जरूरी हैं। सुरक्षात्मक उपाय के तहत बच्चों की देखभाल में बाल श्रम और दुरुपयोग को भी संबोधित किया गया है। यदि उपयुक्त और अच्छी बाल सेवाएं उपलब्ध हों, तो बच्चे भावनात्मक और शारीरिक दोनों ही स्तरों पर स्वस्थ बन सकते हैं। कई ऐसे अध्ययन हैं जो दिखाते हैं कि कायदे से बच्चों की देखभाल स्कूल जाने को प्रोत्साहित करती है। इसके अलावा इससे बड़े बच्चों, खासकर किशोरियों को बच्चों की देखभाल से मुक्ति मिल जाती है।

## नीतिगत/सरकारी हस्तक्षेप

राष्ट्रीय बाल नीति 1974, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986, राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण नीति 2001 और राष्ट्रीय बाल कार्य योजना 2005 जैसे कई दस्तावेजों में बाल सेवाओं की जरूरत को रेखांकित किया गया है। 2002-03 के लिए अनुदानों की मांग पर संसदीय स्थायी समिति ने इस बात की ओर भी इशारा किया था कि समाज के सभी तबकों को पालनों की सेवाएं लेने की छूट होनी चाहिए। राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम भी भविष्य में बाल देखभाल और विकास सेवाओं पर जोर देता है।

फैक्ट्री कानून 1948 कहता है कि 30 महिला मजदूरों से ज्यादा वाले कारखाने में एक पालना होना चाहिए। बीड़ी और सिगार मजदूर कानून 1966, रोपण मजदूर कानून 1951, ठेका मजदूर कानून 1970, अंतरराज्यीय प्रवासी मजदूर कानून 1979 या 1980 में भी महिला मजदूरों के लिए पालने का प्रावधान किया गया है। रोपण मजदूर कानून 1951 महिला मजदूरों को काम से छुट्टी का प्रावधान देता है ताकि वे बच्चों को आहार दे सकें। निर्माण मजदूर कानून 1996 और नरेगा 2005 में छह साल से नीचे के बच्चों के लिए पालने का प्रावधान है।

भारत में 94 फीसदी से ज्यादा महिला मजदूर अनौपचारिक क्षेत्र में काम करती हैं और इसीलिए वे किसी भी श्रम कानून के दायरे में

नहीं आतीं। जिन मामलों में श्रम कानून लागू भी है, वहां उसका खराब क्रियान्वयन एक मुद्दा है जहां अधिकांश महिला श्रमिकों को कोई भी मातृत्व लाभ या बाल देखभाल सेवाएं नहीं दी जातीं।

राष्ट्रीय बाल नीति 1974 के अनुकूल 1975 में केंद्र ने एक योजना शुरू की थी जिसमें स्वयंसेवी संस्थानों को पालना घर खोलने में मदद दी जानी थी ताकि कामकाजी/बीमार महिलाओं को सहयोग मिल सके। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड के तहत आने वाली इस योजना को इस तरह बनाया गया था कि यह स्वास्थ्य सेवा, शौचालय, पोषण, खेल की सामग्री, पालनों, बिस्तरों और हर पालने में एक निरीक्षक के माध्यम से बच्चों को सुरक्षित वातवरण मुहैया करा सके जिसका लक्ष्य असंगठित क्षेत्र की गरीब महिलाएं हों (जो छह साल से नीचे के बच्चों और 12000 रुपये मासिक आय से नीचे के परिवारों पर लागू होता हो)। इस योजना के तहत देश भर में बनाए गए कुल पालना घरों की संख्या 12470 थी जो 3,50,000 बच्चों को सेवाएं दे रहे थे। इस योजना को कामकाजी माताओं के बच्चों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना के साथ 2005-06 में मिला दिया गया।

1993-94 में राष्ट्रीय पालना कोष का गठन महिला और बाल विकास विभाग ने 19.9 करोड़ रुपये के सुरक्षित कोष से किया जिससे स्वयंसेवी संस्थाओं को पालना घर

खोलने में मदद की जा सके। 2005-06 तक 1805 पालने खोल दिए गए। इसके अलावा स्वयंसेवी संस्थानों/महिला मंडलों को सहयोग दिया गया कि वे मौजूदा 10 फीसदी आंगनवाड़ियों को आंगनवाड़ी सह पालना केंद्र के रूप में तब्दील कर सकें; हालांकि यह योजना शुरू नहीं हो सकी।

2005-06 में पालना और डे केयर केंद्रों की योजनाओं को कामकाजी माताओं के बच्चों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना (सीएसडब्ल्यूबी द्वारा क्रियान्वित) और दो राष्ट्रीय स्वैच्छिक संगठनों भारतीय बाल कल्याण परिषद व भारतीय आदिमजाति सेवक संघ के साथ मिला दिया गया। योजना छह साल तक के बच्चों को पालना सेवाएं मुहैया कराती है, जिसमें पूरक पोषण, आपातकालीन दवाएं और सहयोग समेत कई अन्य स्वास्थ्य और पोषण कार्यक्रम शामिल हैं, खासकर आंगनवाड़ी केंद्रों के कार्यक्रम। गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों से प्रतिमाह उपयोग शुल्क के रूप में 20 रुपये लिए जाते हैं और अन्य परिवारों के लिए यह साठ रुपये प्रतिमाह है। अनुमान है कि इस सेवा का लाभ लेने वाले आधे बच्चे बीपीएल परिवारों से हैं। इन उपभोक्ता परिवारों के लिए आय की सीमा को हाल ही में 1800 रुपये प्रतिमाह से बढ़ा कर 12000 रुपये प्रतिमाह कर दिया गया है।

बाल सेवाओं के लिए इन प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों के अतिरिक्त आईसीडीएस और एसएसए के तहत ईसीई के

घटक भी मिश्रित रूप में छह साल से नीचे के बच्चों के लिए देखभाल की समस्या को संबोधित करते हैं (चूंकि बच्चे दिन का कुछ हिस्सा आंगनवाड़ी केंद्रों या स्कूलों में बिताते हैं)। पालने का काम आईसीडीएस के अनिवार्य प्रावधानों का हिस्सा नहीं है। आंगनवाड़ी हालांकि बच्चों के लिए दिन के कुछ घंटों में ही काम करते हैं, लेकिन यह दो साल से ऊपर के बच्चों के लिए होते हैं और आम तौर पर ये चार घंटे ही खुले रहते हैं। हालांकि प्राथमिक स्तर पर बच्चियों की शिक्षा के लिए नया राष्ट्रीय कार्यक्रम (एनपीईजीईएल), जिसे एसएसए में जोड़ा गया है, उसमें बाल देखभाल सेवाओं का एक घटक मौजूद है। इसके तहत उन इलाकों में समुदाय द्वारा संचालित दो डे केयर केंद्रों को खोले जाने का प्रावधान है जहां कोई सरकारी डे केयर केंद्र न हो। इसके तहत खोले गए हर केंद्र को नियमित तौर पर 5000 रुपये का अनुदान और स्थायी तौर पर 1000 रुपये सालाना का अनुदान मिलता है ताकि स्थानीय आईसीडीएस केंद्रों को मजबूती दी जा सके, इसके अलावा आंगनवाड़ी कार्यकर्ताओं को अतिरिक्त घंटों में स्कूल की अवधि के बराबर केंद्र खोलने के लिए प्रोत्साहन राशि दी जाती है।

## निजी और गैर-सरकारी पहलें

प्री-प्राइमरी/नर्सरी स्कूलिंग और डे केयर या पालना केंद्रों को लेकर निजी क्षेत्र की भूमिका पर हालांकि कोई भी विस्तृत सर्वेक्षण अब तक

**तालिका 1: आईसीडीएस की वस्तुस्थिति**  
**राज्यवार आईसीडीएस परियोजनाओं और आंगनवाड़ी केंद्रों की सूची**  
**जो 29.02.2208 तक मंजूरी किए गए और कार्यरत हैं**

		आईसीडीएस परियोजनाएं					आंगनवाड़ी की संख्या						मिनी एडव्यू सीएस को मंजूरी की संख्या
		31.03. 2005 तक मंजूर	2005-06 के दौरान मंजूर	2006-07 के दौरान मंजूर	31.03. 2007 तक कुल मंजूर	29.02. 2008 तक कार्यरत	31.03. 2005 तक मंजूर	2006-07 के दौरान मंजूर	31.03. 2007 तक कुल मंजूर	29.02. 2008 तक कार्यरत	आठवीं योजना में	2006-07 के दौरान	
02/08	आंध्र प्रदेश	363	13	9	385	385	56539	7843	73944	69611	4211	3409	7620
02/08	अरुणाचल प्रदेश	58	21	6	85	85	2359	1240	4277	4277	0	0	0
02/08	असम	196	23	4	223	223	25416	5007	37082	36849	0	0	0
04/07	बिहार	394	144	7	545	394	60813	560	81088	80211	0	0	0
02/08	छत्तीसगढ़	152	6	5	163	158	20289	5500	34937	29355	836	1483	2319
02/08	गोवा	11	0	0	11	11	1012	100	1112	1112	0	0	0
02/08	गुजरात	227	33	0	260	260	37961	2695	44179	43104	0	0	0
02/08	हरियाणा	116	12	9	137	137	13546	833	17192	17192	0	252	252
02/08	हिमाचल प्रदेश	72	4	0	76	76	7354	0	18248	18248	0	0	0
05/07	जम्मू और कश्मीर	140	0	0	140	129	18772	6711	25483	16409	0	0	0
10/07	झारखंड	204	0	0	204	204	24171	1243	32097	31074	0	0	0
02/08	कर्नाटक	185	0	0	185	185	40301	2646	54260	54260	0	405	405
11/07	केरल	163	0	0	163	163	25393	3464	32115	32115	0	0	0
01/08	मध्य प्रदेश	336	31	0	367	367	49787	9914	69238	68306	2250	0	2250
02/08	महाराष्ट्र	372	44	35	451	416	62126	9877	84867	75741	1881	7490	9371
12/07	मणिपुर	34	0	4	38	37	4501	3120	7621	7621	0	0	0
01/08	मेघालय	32	7	2	41	41	2218	209	3388	3195	0	1234	1234
02/08	मिजोरम	21	2	0	23	23	1361	90	1682	1682	0	0	0
02/08	नगालैंड	54	2	0	56	56	2770	159	3194	3194	0	0	0
02/08	उड़ीसा	326	0	0	326	326	34201	4217	41697	41697	1708	3111	4819
02/08	पंजाब	142	6	0	148	148	14730	2748	20169	20169	0	0	0
12/07	राजस्थान	257	17	4	278	278	35821	1510	48372	48363	0	2681	2681
12/08	सिक्किम	5	6	0	11	11	500	0	988	988	0	0	0
02/08	तमिलनाडु	434	0	0	434	434	42677	1539	47265	47265	0	3168	3168
02/08	त्रिपुरा	40	11	3	54	54	3874	1257	7351	7351	0	0	0
02/08	उत्तर प्रदेश	834	1	62	897	889	106059	13170	150727	146785	0	0	0
02/08	उत्तराखंड	99	0	0	99	99	6658	1872	9664	8834	0	2676	2676
01/08	पश्चिम बंगाल	358	58	0	416	411	57540	17512	92152	87665	0	0	0

नहीं हुआ है, लेकिन अनुमान है कि ऐसे केंद्रों में पंजीकृत बच्चों की संख्या 2005 में करीब एक करोड़ थी (ग्यारहवीं योजना में बच्चों की शिक्षा पर उपसमिति की रिपोर्ट, 2008)। ये निजी पहलें, जो दशक भर पहले शहरी इलाकों में केंद्रित थीं, अब कस्बों और गांवों तक भी तेजी से पहुंच रही हैं।

स्वैच्छिक या गैर-सरकारी संगठनों द्वारा मुहैया कराई जाने वाली बाल सेवाओं की भूमिका मामूली है, जो खासकर सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े इलाकों और प्रवासी मजदूरों में पाई जाती है। कुछ एनजीओ मोबाइल पालने भी चलाते हैं। इसके अलावा कुछ संस्थान और कॉरपोरेट संगठन भी डे केयर केंद्र या प्री-स्कूल चलाते हैं। निजी बाल सेवाओं के इन संस्थागत रूपों के अतिरिक्त हाल के वर्षों में घरेलू कामगारों की संख्या में भी कभी तेजी आई है।

## पर्याप्तता और क्रियान्वयन से जुड़े मुद्दे

सार्वजनिक, निजी या स्वैच्छिक क्षेत्रों से बाल सेवाओं को संबोधित करने के लिए की जाने वाली पहलें स्पष्ट तौर पर अपर्याप्त हैं। राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना में पर्याप्त संख्या में पालने नहीं हैं जो कि अनौपचारिक क्षेत्रों में काम कर रही महिलाओं तक के बच्चों की देखभाल से जुड़ी जरूरतों को पूरी कर सकें।

अध्ययनों ने इस ओर भी इशारा

किया है कि मौजूदा पालनों की हालत खराब है। आवासीय इलाकों में अनुदानों के माध्यम से स्वैच्छिक क्षेत्र द्वारा चलाए जाने वाले पालने अप्रभावी हैं, अधिकतर इसलिए कि अनुदान का स्तर कम है, पालने के उद्देश्य के बारे में जागरूकता का अभाव है, दिशानिर्देशों का अभाव है, प्रशिक्षण और निगरानी की कमी है। कम अनुदान व्यावहारिक तौर पर बुनियादी जरूरतों को भी पूरा करने में इन्हें अक्षम बनाता है, जैसे कि कर्मचारियों के वेतन, पानी, जगह और शौचालय सुविधाएं आदि। जिन घंटों में ये केंद्र खुलते हैं उनका माताओं की कार्य अवधि के साथ कोई संबंध नहीं होता और ये सिर्फ तीन से चार घंटे ही खुलते हैं। इससे कार्यक्रम का उद्देश्य ही नहीं पूरा हो पाता।

भले ही विभिन्न क्षेत्रों जैसे खदानों, रोपणों, कारखानों आदि में पालनों का होना कानूनी अनिवार्यता है, लेकिन काफी कम पालने की मौजूद हैं और कई काम करना बंद कर चुके हैं। इसकी एक बड़ी वजह नियोक्ता के ऊपर पालने मुहैया कराने की प्रबंधकीय और वित्तीय जिम्मेदारी का होना है। कोई साझा जिम्मेदारी, दिशानिर्देश या निरीक्षण की निगरानी मौजूद नहीं है। श्रम विभाग की प्राथमिकता की सूची में पालने कभी रहे ही नहीं और कभी इस बात की कोशिश नहीं की गई कि नियोक्ताओं द्वारा लगाए जाने वाले पालनों की निगरानी कर ली जाए कि वे हैं भी या नहीं। नई आर्थिक नीति के मद्देनजर विनिर्माण इकाइयों के

आकार में कमी आ रही है जिससे यह संभावना ही कम हो गई है कि कारखानों की ऐसी इकाइयां मौजूद हों जहां 30 या उससे ज्यादा महिला श्रमिक काम करती हों। इसने कामकाजी महिलाओं के बच्चों के लिए पालने के संदर्भ में फैक्ट्री कानून के महत्व को ही हलका कर दिया है।

नरेगा का सामाजिक लेखा परीक्षण दिखाता है कि कार्य स्थलों पर पालनों/बाल देखभाल सेवाओं की उपेक्षा की जा रही है, जबकि युवा महिलाएं इस कार्यक्रम के लाभार्थियों में पर्याप्त संख्या में हैं। यह बात तमिलनाडु जैसे राज्यों में भी सही पाई गई जिनका सामाजिक/बाल कार्यक्रमों का रिकॉर्ड अच्छा रहा है।

इस तरह नियमन व अनिवार्य पंजीकरण के अभाव में महिलाओं को उन बाल सेवाओं को अपनाने को विवश होना पड़ रहा है जहां गुणवत्ता की कोई गारंटी नहीं है।

### उभरती चिंताएं

बाल सेवाओं को शिक्षा और पोषण के पूरक कार्यक्रमों के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि इन्हें केंद्र में होना चाहिए। बच्चों की जरूरतों और अधिकारों को संबोधित करने के लिए एक समग्र रणनीति की जरूरत है जिसे हर आयु वर्ग की विशिष्ट आवश्यकताओं के हिसाब से सेवाएं देनी चाहिए, जैसे 0-6 माह, 6 माह से 3 साल और 3-6 साल। एक ओर जहां पहली श्रेणी की जरूरतों को पूरा करने के लिए

मातृत्व जरूरतों को पूरा करने की ही अनिवार्यता होगी, वहीं आईसीडीएस (आंगनवाड़ी सह पालना योजना) और कार्यस्थलों पर पालने तीन साल तक के बच्चों की जरूरतों को पूरा कर सकते हैं। तीन से छह साल के बीच के बच्चों की देखभाल को प्री-स्कूल शिक्षा का हिस्सा बनाया जा सकता है जहां दिन भर के लिए एक पालना सुविधा मुहैया कराई जा सकती है।

राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना को विस्तृत किया जाना चाहिए। एनएसएसओ के 61वें दौर के सर्वेक्षण 1999-2000 के मुताबिक कार्यबल में 14.9 करोड़ महिलाएं हैं जिनमें से बड़ी आबादी प्रजनन उम्र वाली महिलाओं की है। ऐसी महिलाओं के लिए दिन के वक्त सहयोग सेवाएं अनिवार्य हैं। प्रवासी मजदूरों और अनौपचारिक क्षेत्रों में काम करने वालों के बच्चों की देखभाल की जरूरत को पूरा करने के लिए विभिन्न किस्म की मोबाइल सेवाओं/पालनों को विस्तारित किए जाने की जरूरत है जिनमें समय और स्पेस का लचीलापन हो। नए और भिन्न किस्म के संगठनों जैसे मजदूर संगठनों, स्वयं सहायता समूहों और समुदाय आधारित संगठनों को शामिल करने की छूट होनी चाहिए कि वे पालना चला सकें। इस तरह मौजूदा पालना सुविधाओं को गुणात्मक रूप से विस्तारित किए जाने की जरूरत है।

आईसीडीएस इकलौती ऐसी योजना है जो हर रिहाइश में बच्चों तक पहुंच सकती है, लिहाजा इसे बाल

देखभाल सेवाओं में निर्णायक भूमिका निभानी होगी। आईसीडीएस का सार्विकीकरण महज पूरक भोजन के पार जाना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 और पीओए 1992 ने भी आंगनवाड़ी केंद्रों को आंगनवाड़ी सह पालने में चरणबद्ध तरीके से रूपांतरित करने की सिफारिश की थी। हालांकि राष्ट्रीय पालना कोष कार्यक्रम के तहत ऐसे 10 फीसदी आंगनवाड़ी केंद्रों के रूपांतरण की बात थी, लेकिन इस पहल का अंत एनसीएफ के राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना में विलय के रूप में हो गया। इस तरह एनपीई और पीओए के नीतिगत सुझाव अब तक अमल में नहीं आ सके हैं। इन्हें पूरा करने के प्रावधानों को तरजीह दिए जाने की जरूरत है। इसके अलावा, सभी शिक्षण पूर्व, प्राथमिक/बुनियादी शिक्षण कार्यक्रमों में डे केयर/पालना के घटक को जोड़ा जाना होगा।

इसके अलावा विभिन्न कार्यक्रमों के तहत सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार भी किए जाने की जरूरत है। यह सभी पालनों/डे केयर केंद्रों के लिए न्यूनतम मानक तय करने की मांग करता है। इसके अतिरिक्त सेवाओं पर कड़ी निगरानी रखी जानी होगी और पारदर्शिता व जवाबदेही सुनिश्चित की जानी होगी। राष्ट्रीय स्तर पर एक समग्र सर्वेक्षण किए जाने की भी जरूरत है जो बाल सेवा संस्थानों के विभिन्न मॉडलों

को कवर कर सके, जैसे निजी पालने (घरेलू और संस्थागत दोनों), स्वैच्छिक क्षेत्र के पालने (सरकारी अनुदान प्राप्त और अन्य) और जो वैधानिक प्रावधानों के तहत संचालित किए जा रहे हैं। ऐसा एक डेटाबेस उपयुक्त नीतियों को बनाने तथा नियामक व निगरानी प्रणाली स्थापित करने में मदद करेगा।

### निष्कर्ष

समाज के संदर्भ में छोटे बच्चों की देखभाल के महत्व को समझे जाने की जरूरत है। बच्चे के संपूर्ण विकास के लिए स्थितियां उत्पन्न करना समाज के लिए बहुत जरूरी है। इसी संदर्भ में बाल देखभाल सेवाओं का एक समग्र नजरिया बनाया जाना होगा। एक ऐसा नजरिया, जो मातृ श्रम की जरूरत को स्वीकार करता हो, छह साल तक के बच्चों को उपयुक्त संस्थागत देखभाल की आवश्यकता को समझता हो तथा एक ऐसी समग्र योजना जो बचपन में देखभाल के सभी आयामों को संज्ञान में लेती हो। इसी संदर्भ में हमें लगातार गुणवत्ता को सुधारने, योजनाओं की क्षमता में बेहतरी और पहुंच को बढ़ाने पर लगातार जोर देना होगा ताकि बच्चों की देखभाल के प्रावधानों को पूरा किया जा सके।



# 5

## भारत में शैशवावस्था में देखभाल और शिक्षा की स्थिति

—आशा सिंह और नीलम सूद

### परिचय

अधिकतम विकास के लिए भाषाई रूप से सक्रिय, मानसिक रूप से प्रेरक, सामाजिक रूप से जवाबदेह और भावनात्मक रूप से सहयोगी वातावरण जरूरी होता है, और यही शैशवावस्था के निर्णायक दौर होने का एक वैज्ञानिक तर्क है।

बच्चों के लिए राष्ट्रीय नीति, 1974, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 और राष्ट्रीय कार्य योजना, 1992 समेत समेकित बाल विकास योजना (आईसीडीएस) समग्र इंसानी विकास में ईसीसीई की भूमिका की मान्यता से उपजे हैं। पिछले दशक के दौरान भले ही भारत में ईसीसीई में अधिक निवेश किया गया है, लेकिन यह क्षेत्र अब भी वित्तीय

और अन्य सहयोग को पाने के लिए जूझ रहा है ताकि कार्यक्रमों की मात्रा और गुणवत्ता बढ़ाई जा सके।

### ईसीसीई पर वैश्विक परिप्रेक्ष्य

बच्चे की विकास प्रक्रिया में शुरुआती हस्तक्षेप उसकी बौद्धिक, सामाजिक और शारीरिक क्षमताओं को सुधारने के लिहाज से दीर्घकालिक साबित हो सकते हैं। कई अध्ययनों ने दिखाया है कि प्री-स्कूल शिक्षा में निवेश आर्थिक रूप से लाभकर है क्योंकि यह बच्चों के लिए बेहतर विकल्प मुहैया कराता है और परिवारों को लाभान्वित करता है। डकार में 2000 में सबके लिए शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा में अंतरराष्ट्रीय प्रयासों की रीढ़ बन चुका है, जिसने

ईसीसीई को शैक्षणिक बहसों के केंद्र में ला दिया है।

## भारतीय संदर्भ

भारत में ईसीसीई के शुरुआती प्रवर्तकों में गुजरात के गीजूभाई बढेका और महाराष्ट्र की ताराबाई मोडक थीं, जबकि मारिया मॉन्टेसरी के काम ने उनके दर्शन के अनुकूल कुछ इसीसीई केंद्रों की स्थापना में मदद की। सरकार ने शैशवावस्था में देखभाल का महत्व 1974 में बनी राष्ट्रीय बाल नीति में पहचाना। राज्य ने खुद को बाल सेवाओं में 'प्रगतिशील बढ़ोतरी' के प्रति भी वचनबद्ध किया। 1975 में आरंभ आईसीडीएस ने इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए सेवाओं को 2008 तक 10.11 लाख केंद्रों तक विस्तारित किया जिससे पूरक पोषण कार्यक्रम के तहत 16685 बच्चों को लाभ मिला और प्री-स्कूल शिक्षा के माध्यम से तीन से छह साल के बीच 330 लाख बच्चों को लाभ मिला। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 ने ईसीसीई पर 'मानव संसाधन विकास की रणनीति में एक निर्णायक निवेश, प्राथमिक शिक्षा के लिए एक पूरक और सहयोगी सेवा तथा कामकाजी महिलाओं के लिए एक मदद' के रूप में जोर दिया। भारत का संविधान अनुच्छेद 45 में कहता है कि "राज्य को छह साल पूरा होने तक सभी बच्चों को आरंभिक बाल सेवाएं मुहैया कराने की दिशा में उद्देश्यरत होना चाहिए"। इस तरह ईसीसीई एक संवैधानिक वचनबद्धता है, न कि सिर्फ भारत के हर

बच्चे का एक "न्यायिक" अधिकार।

हाल ही में एनसीईआरटी ने एक फोकस समूह का गठन किया है जिसका काम ईसीसीई में पाठ्यक्रम के लक्ष्यों पर विचार करना, अवधारणा बनाना और विवरण देना है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या संरचना की पंचवर्षीय समीक्षा के अंश के रूप में 2005 में जारी ईसीसीई अवधारणा पत्र खतरों, प्रतिकूल सामाजिक यथार्थ और नीतिगत परिणामों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी है। इस दस्तावेज में एक नया आयाम पाठ्यचर्या संरचना के दिशानिर्देशों के लिए विवाद समाधानात्मक और समाधान केंद्रित रणनीति है। कुछ उद्देश्यों का समावेश ओर मौजूदगी तथा कक्षा में चलने वाली प्रक्रिया के फलसफे के कारण यह दस्तावेज विशेष रूप से अभ्यासियों और शिक्षाशास्त्रियों के लिए उपयोगी हो जाता है।

## उभरते रुझान/नीति

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना "योजना के केंद्र में बच्चों के विकास" को रखती है जिसमें सिफारिशें अधिकार केंद्रित, समग्र और ईसीसीई के समूचे ढांचे पर केंद्रित हैं। इसके विभिन्न सुझावों में पालनों की स्थापना, परित्यक्त और अकेले बच्चों के लिए वैकल्पिक देखभाल पर ताजा जोर दिया गया है (जिसमें दत्तकग्रहण भी शामिल है) तथा आईसीडीएस कार्यक्रम में सुधार भी इसमें शामिल है।

## मौजूदा रुझान

अधिकतर सरकारी और सशुल्क निजी ईसीसीई केंद्रों में भीड़ बहुत ज्यादा है, शिक्षक और छात्रों का अनुपात खराब है और निजी तौर पर परामर्श आदि बहुत कम है। किसी भी नियमन के अभाव में ये केंद्र बगैर गुणवत्ता पर ध्यान दिए कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे हैं।

एनसीएफ 2005 तक सरकारी दस्तावेजों में पाठ्यचर्या संरचना पर कोई बात नहीं थी जो शैक्षणिक उद्देश्यों को परिभाषित कर सके या ईसीसीई में विनियमन को निर्देशित कर सके। प्रत्येक व्यक्ति या समूह कक्षा की प्रक्रियाओं और विषयवस्तु को अपने हिसाब से तय कर सकता है, यह एक ऐसी आजादी जिसकी खामियां भी हैं और अपनी ताकत भी। एक पाठ्यचर्या की संरचना बाल विकास के सिद्धांतों के अनुरूप दिशा देने का काम करती है जो ज्ञान निर्माता के रूप में बच्चों को समझती है न कि सिर्फ सूचनाओं के ग्रहणकर्ता के रूप में लेती हो। लेकिन भारत में तमाम किस्म के सामाजिक संदर्भों, भाषा, धर्म व समाजार्थिक प्रभावों की जटिलताएं हैं जिनका असर काफी गहरे स्कूली प्रतिष्ठान, ढांचे या यहां तक कि ढांचे के अभाव पर बच्चों की प्रतिक्रियाओं पर पड़ता है।

बच्चों को ईसीसीई तक आसान पहुंच मुहैया कराना, खासकर वंचित समूहों के, अब भी ऐसा लक्ष्य है जिससे हम चूक रहे हैं। ये सेवाएं आंगनवाड़ी केंद्रों, एनजीओ संचालित बालवाड़ियों, पालना, सरकारी और निजी स्कूलों के प्री-प्राइमरी सेक्शनों

में अलग-अलग हैं। ईसीसीई पर उपसमूह की रिपोर्ट ने पाया है कि जहां औसत पंजीकरण 20 से 30 फीसदी के बीच है, प्रमुख राज्यों में आधे से ज्यादा बच्चे ऐसे नहीं हैं जो प्री-स्कूल में हों। भले ही पिछले दस साल में निजी और सार्वजनिक सेवाओं में पंजीकरण बढ़ा है, लेकिन योग्य आयु समूह में 70 फीसदी से ज्यादा बच्चों तक अब भी इन सेवाओं की पहुंच नहीं बन पाई है।

2005-06 में स्कूलों से एकत्र सूचनाओं का डेटाबेस मुहैया कराने वाले न्यूपा के जिला सूचना तंत्र (डाइस) के मुताबिक प्री-प्राइमरी कक्षाओं में पंजीकरण का कुल पंजीकरण से अनुपात 6.94 फीसदी है, हालांकि ग्रामीण इलाकों के मुकाबले शहरी इलाकों और सरकारी स्कूलों के मुकाबले निजी स्कूलों में यह अनुपात कुछ ज्यादा है। तीन से छह साल के बीच के बच्चों में राष्ट्रीय स्तर पर महिला और बाल विकास मंत्रालय ने अपनी रिपोर्ट 'ईसीसीई' एक समीक्षा' में पाया कि कुल बच्चों में महज 19.64 फीसदी बच्चे ही ईसीसीई के तहत 1996-97 में कवर किए गए थे। इसके बाद से भले ही आईसीडीएस के तहत खासकर बच्चों की कवरेज बढ़ी है, लेकिन यह 30 फीसदी का स्तर तोड़ पाने में नाकाम रही है।

## ईसीसीई सेवाओं में मुद्दे

*उम्र का सवाल:* विभिन्न शिक्षा प्रदाताओं के लिए प्री-स्कूल और स्कूलों में प्रवेश की उम्र सीमा अलग-अलग है, हालांकि राज्यों में

सरकार द्वारा तय उम्र 5 या 6 साल है। इससे ईसीसीई सेवाओं के लिए सही आयु सीमा का सवाल खड़ा होता है और प्री-स्कूल व स्कूल सेवाओं के बीच एक भ्रम की स्थिति बनती है।

*पाठ्यक्रम को लेकर सवाल:* सबसे बड़ी चुनौती बचपन में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया कराना है; इसमें एक ऐसे पाठ्यक्रम की जरूरत है जो बहुभाषिकता जैसे मूलवासी रुझानों को बचाए रख सके। शिक्षा का ढांचा भी ऐसा हो जो परिवार/समुदाय की संलग्नता को जगह दे सके। व्यापक स्तर पर परिभाषित आवश्यकताएं पाठ्यक्रम की सामग्री और ईसीसीई के स्वरूप को तय करने में एक ढांचे का काम कर सकती हैं, जो बाल विकास के सिद्धांतों पर आधारित हों। इसका प्रभाव अधिकतम करने के लिए बाल विकास के तीन प्रमुख सिद्धांतों को संज्ञान में लिए जाने की जरूरत है: (क) बाल विकास एक निरंतर चलने वाली संचयी प्रक्रिया है; (ख) स्वास्थ्य, पोषण, शैक्षणिक और मनोवैज्ञानिक व सामाजिक विकास सभी एक-दूसरे से जुड़े हैं; और (ग) बाल विकास अधिकतम होगा यदि कार्यक्रमों में न सिर्फ बच्चे को बल्कि उसकी समूची पृष्ठभूमि को संबोधित किया जाए।

पाठ्यक्रम और शैक्षणिक-अध्यापकीय सामग्री को पारंपरिक प्रणालियों, आचार, सामग्री, भोजन और बच्चों की देखभाल समेत अन्य प्रणालियों को भी संज्ञान में लेना चाहिए।

2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या संरचना ने सामाजिक रूप से अर्थपूर्ण और प्रासंगिक शिक्षण की वकालत की थी जो किताबों से पार जा सके। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि एनसीएफ ने एक ऐसी विचारधारा का प्रसार किया जिसमें बच्चों को ज्ञान के सक्रिय निर्माता के रूप में देखा जाता हो न कि सिर्फ सूचनाओं के ग्राहक के रूप में। यह पाठ्यचर्या उम्र के उपयुक्त, चक्रीय, खेल आधारित, एकीकृत, आनुभविक, लचीली और संदर्भात्मक होनी चाहिए।

*बच्चे की जरूरतों का स्वरूप:*

बच्चों के इच्छित लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए सकारात्मक अनुभवों की जरूरत पड़ती है, ऐसे अनुभव जो स्वस्थ रुझान पैदा कर सकें। पेशेवरों को अध्यापन-शिक्षण के अनुभवों के बारे में सीखना चाहिए और ऐसे वातावरणों के बारे में जो बच्चों को अनावश्यक वयस्क प्रतिबंधों से आजादी, व्यक्तिगत उपलब्धि से पैदा होने वाले आनंद, अनुकूलन की क्षमता के विकास और समूह का सदस्य बनने की छूट दे सकें।

बाल विकास की फैशनेबल शब्दावली के अलावा सेवा प्रदाताओं को देखभाल, भोजन कराने और स्वास्थ्य सेवा के देसी तरीकों को भी देखना चाहिए। छह साल से नीचे के बच्चों के लिए कार्य समूह ने 2007 में ईसीसीई के अनिवार्य घटकों के रूप में निम्न सिफारिशों की थीं: (क) गुणवत्तापूर्ण भोजन का अधिकार; (ख) एक ऐसा बाल सेवा तंत्र जो परिवार द्वारा देखभाल को बढ़ाए और महिलाओं को सशक्त कर सके; (ग) एक ऐसा

स्वास्थ्य सेवा तंत्र जो जीवन के लिए खतरनाक बीमारियों के लिए तत्काल स्थानीय स्तर पर मिलने वाले उपचार मुहैया करा सके; इसे कुपोषण और बीमारियों के बचाव और प्रबंधन को भी संबोधित करना होगा।

#### प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण:

सामाजिक जनांकिकीय विविधता बाल सेवा सहजकर्ता या प्री-स्कूल अध्यापक के लिए एक बड़ी चुनौती है (जो सेवा की गुणवत्ता को तय करता है)। ईसीसीई कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए कुछ कदम उठाए गए हैं ताकि वे ज्यादा पेशेवर बन सकें। क्षमता निर्माण का काम कई स्तरों पर होता है - कॉलेजों द्वारा ईसीसीई में 'होम साइंस' कार्यक्रमों की पेशकश से लेकर परास्नातक पाठ्यक्रमों और फील्ड कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण तक। हालांकि अधिकतर प्रशिक्षण कार्यक्रमों में स्थानीय ज्ञान और कौशल की संपदा से साक्षात्कार नहीं करवाया जाता। ईसीसीई कार्मिकों के प्रशिक्षण के लिए अध्यापक प्रशिक्षण राष्ट्रीय परिषद ने दिशानिर्देश तैयार किए हैं। राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी संस्थान में भी ईसीसीई पर एक पेशेवर पाठ्यक्रम है और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय किशोरों से जुड़े कई पाठ्यक्रम संचालित करता है। एनसीईआरटी और निपसिड ईसीसीई में छात्रों के लिए पाठ्यक्रम उपलब्ध कराते हैं तथा किशोरों पर परामर्श और दिशानिर्देश भी मुहैया कराते हैं। एनसीईआरटी के माध्यम से ईसीसीई अध्यापकों की भागीदारी भी बढ़ रही है।

**शोध: बच्चों और बचपन पर एक समझदारी का निर्माण:** भारत में छोटे-छोटे अध्ययनों समेत राज्यों में बड़े अध्ययनों के रूप में शोध होते रहे हैं। निपसिड और एनसीईआरटी जैसे केंद्रीय संगठन व्यापक अध्ययनों में संलग्न हैं जो संसाधन वितरण और पहुंच के मसलों को समझ सके। आठ राज्यों में एनसीईआरटी द्वारा किए गए अध्ययन (महाराष्ट्र, राजस्थान, कर्नाटक, तमिलनाडु, बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और गोवा) में औपचारिक स्कूलिंग के मामले में पंजीकरण, अकादमिक व सामाजिक तैयारी को लेकर अल्पकालिक लाभ देखे गए। दिलचस्प बात यह थी कि ईसीई का प्रभाव लड़कों से ज्यादा लड़कियों में पाया गया (एनसीईआरटी 1993)। निपसिड द्वारा 98 जिलों में आईसीडीएस पर 1992 में किए गए अध्ययन ने भी पंजीकरण को प्रोत्साहन, ड्रॉपआउट की दर में कमी और प्राथमिक विद्यालयों में बच्चों के ज्यादा रुकने के मामले में ईसीई की सकारात्मक भूमिका सामने आई।

#### प्रविधियों का विकास

सूक्ष्म अध्ययनों और व्यापक पड़ताल के माध्यम से भारतीय संदर्भ के लिए उपयुक्त कई प्रविधियों को विकसित किया गया है। अन्य रिहाइशों की भी आकलन प्रविधियों का उपयोग किया गया है। कुछ ऐसी प्रविधियां जिन्होंने देश में शोध को निर्देशित करने का काम किया है, उनमें भारतीय शिशुओं के लिए विकास मूल्यांकन मानक

(डीएसआईआई) और वाइनलैंड का सामाजिक परिपक्वता मानक व पोर्टेज चेकलिस्ट शामिल हैं।

## निजी सेवा प्रदाताओं पर नियमन

गांवों और शहरों में कई किस्म के नर्सरी स्कूल पाए जा सकते हैं। इनमें अधिकतर मिनी स्कूलों की तरह चलते हैं और औपचारिक शिक्षण पर जोर देते हैं। फिलहाल ऐसे नर्सरी स्कूलों को लेकर कोई नियमन नहीं है और इनके पंजीकरण की भी अनिवार्यता नहीं है। इस तरह यह उद्योग न तो बुनियादी ढांचे, न ही स्वच्छ पेयजल, शौचालय, आंतरिक और बाहरी गतिविधियों के लिए स्पेस, वयस्क-शिशु अनुपात, सामग्रियों की उपलब्धता और सबसे बढ़ कर ऐसे संवेदनशील शिक्षकों का कोई मानक पूरा नहीं करता जो पर्याप्त प्रशिक्षित हों और जिनमें छोटे बच्चों को लेकर सहानुभूति हो। किसी भी नियामक प्रणाली और ऐसे संस्थानों की संख्या पर किसी डेटाबेस के अभाव में छोटे बच्चों की कवरेज का अनुमान लगाना ओर नियोजन कठिन है।

ईएफए ग्लोबल मॉनिटरिंग रिपोर्ट 2007 सिफारिश करती है कि यह अनिवार्य है कि “ऐसे नियामक व निगरानी तंत्र बनाए जाएं जो समूचे सार्वजनिक और निजी प्रतिष्ठानों पर समान रूप से लागू हों।” निजी क्षेत्र पर सीमित नियमन पहुंच और गुणवत्ता पर खासकर सबसे ज्यादा अरक्षितों और वंचितों के संदर्भ में उलटा असर डाल सकता है।

अक्सर निजी-सार्वजनिक भागीदारी की बात की जाती है, लेकिन अनुभव दिखाते हैं कि इसका सीधा सा अर्थ निजी क्षेत्र को खुली छूट देना होता है। एक ओर जहां निजी क्षेत्र के मुनाफा कमाने वाले स्कूलों की संख्या बढ़ी है, उनकी क्षमता, गुणवत्ता, समता और अन्य प्रभावों का आकलन करना पारदर्शिता के अभाव में संभव नहीं है।

*नियोजन के लिए मजबूत डेटाबेस:* सेवा आपूर्ति के प्रभावी प्रबंधन और नियोजन तथा प्रदर्शन की निगरानी व जवाबदेही के लिए एक ठोस डेटाबेस की जरूरत है। नीति निर्माण और ईसीसीई सेवाओं की दिशा में एक अनिवार्य कदम “शैशवावस्था के लिए एक समग्र और एकीकृत डेटा प्रणाली का विकास” होगा।

## निष्कर्ष

भारत में बच्चों की समस्या के लिए जो कार्यक्रम चलाया जा रहा है, वह सबसे बड़ी पहलों में एक है जो इस समस्या से समेकित तरीके से निपटता है। हालांकि स्वास्थ्य और पोषण पर जोर अक्सर ईसीसीई में “समग्र बच्चे” की रणनीति की कीमत पर दिया जाता है। राष्ट्रीय बाल नीति और राष्ट्रीय बाल आयोग को सुनिश्चित करना चाहिए कि ईसीसीई में जोर समता और गुणवत्ता सुनिश्चित करने पर हो, जो अध्यापन की विधियों में विविधता व बहुलता की जगह रखे तथा जिसमें विषयवस्तु बच्चों की जरूरतों के मुताबिक हो।

# 6

## सार्वजनिक व्यय, बजट और छह साल तक के बच्चे

—डेनी जॉन

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार के न्यूनतम साझा कार्यक्रम में प्रमुख सार्वजनिक व्यय को लेकर महत्वाकांक्षी लक्ष्य रखे गए हैं - शिक्षा और स्वास्थ्य में निवेश को बढ़ा कर जीडीपी के 6 फीसदी और 2.3 फीसदी तक अगले पांच साल में ले आना, जिसमें मुख्यतः प्राथमिक चिकित्सा पर जोर हो। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन को 12 अप्रैल 2005 को शुरू किया गया।

### आर्थिक वृद्धि और सामाजिक क्षेत्र पर व्यय

भारत हाल के वर्षों में उच्च आर्थिक वृद्धि की राह पर चल पड़ा है। 2003-04 से जीडीपी की वृद्धि दर बाजार मूल्य पर आठ फीसदी से हर साल ज्यादा रही है।

हालांकि ऐसी आर्थिक वृद्धि ने मानव विकास सूचकांकों में कोई बेहतरी नहीं की है। वैश्विक स्वास्थ्य विकास रिपोर्ट 2007 के मुताबिक भारत मध्यम मानव विकास वाले 177 देशों के बीच 128 वें पायदान पर है जबकि पिछले साल इसका स्थान 126 था। लैंगिक विकास सूचकांक के मामले में भारत का 157 देशों में 113वां स्थान है।

एचडीआई के स्थान और जीडीपी के स्थान में शून्य का अंतर लैंगिक विकास और मानव विकास में भी ऐसे ही स्थान का सूचक है। यह बताता है कि विकास नियोजन समेकित बजटीय आवंटन के क्षेत्र पर भारत में अभी काफी जोर दिए जाने की जरूरत है।

सामाजिक क्षेत्र के व्यय के लिए बजटीय आवंटन में नब्बे के दशक से काफी इजाफा हुआ है। यह औसत सरकारी व्यय और वास्तविक व्यय दोनों के ही संदर्भों में है (स्थिर कीमतों पर गणना)। लेकिन जीडीपी के अंश के रूप में सरकार द्वारा सामाजिक सेवाओं पर किए जाने वाले व्यय में ज्यादा अंतर नहीं आया है - 1996-97 में सामाजिक क्षेत्र पर व्यय जीडीपी के 0.71 फीसदी से बढ़ कर 2006-07 में जीडीपी के 1.1 फीसदी तक आ गया। यह इजाफा जीडीपी के 0.4 फीसदी से भी कम है जो अपर्याप्त है, यदि हम सामाजिक क्षेत्र के लिए ज्यादा सार्वजनिक संसाधनों की जरूरत और इस अवधि में राज्यों की बिगड़ती सेहत को भी संज्ञान में लें।

2006-07 में केंद्रीय बजट में से सिर्फ 1.66 फीसदी अनुदान छह साल से नीचे के बच्चों के लिए आया। 2000-01 में यह 0.88 फीसदी था। व्यय तो और भी कम है। 2000 से 2005 के बीच छोटे बच्चों के लिए सरकारी योजनाओं पर औसत व्यय सिर्फ प्रति बच्चा सालाना 208 रुपये था। 2004-05

में केंद्रीय बजट में से सिर्फ 0.95 फीसदी अनुदान छह साल से नीचे के बच्चों के लिए आया। 2000-01 में यह 151 रुपये प्रति बच्चा तक आ गया (कुल 2476 करोड़ रुपये)। 2004-05 में यह बढ़ कर 288 रुपये पर पहुंच गया (करीब 4724 करोड़ रुपये)। यह भी अपर्याप्त था। इन सात कार्यक्रमों पर होने वाला संचयी व्यय दिखाता है कि 2000-01 में यह 0.88 फीसदी था। 2006-07 में बढ़ कर यह 1.66 फीसदी पहुंच गया। छोटें बच्चों को दी जाने वाली कम तरजीह इस बात से भी साफ होती है जब हम केंद्रीय बजट के हिस्से के तौर पर इस अनुदान का विश्लेषण करते हैं।

महिला और बाल विकास मंत्रालय ने शिक्षा और विकास पर काम करने वाली सोसायटी फॉर अप्लाइड रिसर्च को 1993-94 से 2002-03 के दौरान केंद्रीय और राज्य स्तरों पर बच्चों पर होने वाले व्यय का संकलन करने का काम सौंपा। अध्ययन ने पाया कि:

- 1993-94 से 2002-03 के दौरान कुल व्यय में वृद्धि, केंद्र और राज्यों के लिए संचयी

**तालिका 1: केंद्रीय बजट के अंश के तौर पर बीएफसी**

	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	2006-07	2007-08	2008-09	औसत
बजट अनुमान	2.4	2.3	2.4	2.5	2.8	4.1	5.2	4.8	4.98	3.4
संशोधित अनुमान	2.1	2.2	2.1	2.2	2.8	4.2	4.67	4.42	-	3.08

स्रोत: बजट व्यय, खंड दो, विभिन्न वर्ष



आधार पर 257 फीसदी है। राज्य सरकारों का हिस्सा केंद्र से कुछ ज्यादा है जो 85 फीसदी से अधिक है। आईसीडीएस और पोषण के मामलों में केंद्र की हिस्सेदारी एक-तिहाई से भी कम है।

- जीएनपी के अंश के तौर पर बच्चों पर व्यय में वृद्धि 1993-94 के 2.66 फीसदी से 2001-02 में 3.26 फीसदी हो गई है।

केंद्र सरकार के कुल व्यय में बाल विकास के प्रावधानों का अनुपात 2004-05 (बजट अनुमान) में 0.42 फीसदी से बढ़ कर 2008-09 (बजट अनुमान) में 0.87 फीसदी हो गया है।

### क्षेत्रवार विश्लेषण: बच्चों के लिए बजट

2006-07 में खत्म हुए नौ सालों में बच्चों के लिए बजट (बीएफसी) केंद्रीय बजट का 3.4 फीसदी रहा है। बच्चों को दिए जाने वाले प्रत्येक सौ रुपये में से 63.09 शिक्षा के लिए, 19.31 स्वास्थ्य, 16.62 विकास, और 99 पैसा सुरक्षा के लिए था। 2000-01 से 2004-05 के बीच सामाजिक क्षेत्र पर व्यय कुल बजट का औसतन 10.81 फीसदी था। इसके भीतर बच्चों को 22.38 फीसदी प्राप्त हुआ है। बीएफसी के भीतर स्वास्थ्य में 18 फीसदी, विकास में 27.3 फीसदी, सुरक्षा पर 18.3 फीसदी और शिक्षा पर 28.2 फीसदी इजाफा हुआ है।

बच्चों के लिए कुल बजट में औसत 25.4 फीसदी का इजाफा प्राथमिक तौर पर शिक्षा और विकास के मदों में 2005-06 और 2006-07 में बढ़े आवंटन का नतीजा है। इस मामले में बढ़ा हुआ आवंटन सीधे तौर पर एसएसए मध्याह्न भोजन योजना और आईसीडीएस से जुड़ा है; इस वृद्धि के पहले संविधान में एक संशोधन किया गया था, बड़े पैमाने पर सार्वजनिक प्रदर्शन हुए थे और सुप्रीम कोर्ट का आदेश आया था। 2008-09 के बजटीय आंकड़े दिखाते हैं कि मध्याह्न भोजन योजना और एसएसए के लिए सम्मिलित आवंटन 2007-08 में 6.3 फीसदी बढ़ गया।

### छह साल से कम के बच्चों पर जोर

2001 की जनगणना में छह साल तक के बच्चों की संख्या 15.8 करोड़ बताई गई है जो मोटे तौर पर कुल आबादी का 15.2 फीसदी है। इनमें से 7.595 करोड़ लड़कियां हैं और 8.191 करोड़ लड़के हैं जिनसे लिंग अनुपात प्रति हजार लड़कों पर 927 लड़कियों का बनता है। इनमें से अधिकतर बच्चे ऐसे सामाजिक और आर्थिक माहौल से आते हैं जो शारीरिक और मानसिक विकास को बाधित करता है - गरीबी, खराब पर्यावरणीय स्थितियां, खराब शौच सुविधा, रोग, संक्रमण, प्राथमिक चिकित्सा तक अपर्याप्त पहुंच, बच्चे की अपर्याप्त देखभाल और भोजन से जुड़ा आचार इत्यादि। आबादी प्रक्षेपण पर

**तालिका 2: बच्चों पर राज्यों और केंद्र द्वारा किए गए व्यय का संक्षिप्त ब्यौरा (करोड़ रुपये में)**

वर्ष	केंद्र की राशि	प्रतिशत	राज्य की राशि	प्रतिशत	कुल राशि
1993-94	1,003.29	5	19,447.51	95	20,450.80
1994-95	1,944.14	8	22,605.82	92	24,549.95
1995-96	2,769.31	9	28,853.81	91	31,623.12
1996-97	3,268.28	9	32,021.30	91	35,289.58
1997-98	3,919.94	10	36,218.00	90	40,137.95
1998-99	5,147.27	10	44,541.28	90	49,688.56
1999-2000	5,565.19	10	52,676.56	90	58,241.75
2000-01	5,986.30	10	56,573.78	90	62,560.09
2001-02 (संशोधित अनुमान)	6,859.39	10	61,043.80	90	67,903.19
2002-03 (बजट अनुमान)	8,911.04	12	64,156.53	88	73,067.57

स्रोत: चाइल्ड बजटिंग, अध्याय 7, महिला और बाल विकास मंत्रालय, सालाना रिपोर्ट 2004-05

तकनीकी समूह ने अनुमान लगाया है कि 2016 में करीब 2.5 करोड़ नवजात बच्चों को प्रतिरोध सेवाओं की जरूरत होगी और 7.2 करोड़ को प्री-स्कूल शिक्षण सेवाओं की जरूरत होगी (इस अनुमान के आधार पर कि आज पैदा हुआ एक भारतीय बच्चा 1991 में पैदा हुए बच्चे के मुकाबले चार साल ज्यादा जी सकता है)।

बाल विकास की यह गुत्थी पांच चरणों से हाकर गुजरती है - एक माह तक, एक माह से तीन साल, तीन साल से छह साल और उसके बाद दो उप-चरण प्राथमिक शिक्षा के दौर में होते हैं।

सरकार बच्चों के लिए सात योजनाएं चला रही है: आईसीडीएस, बाल शिक्षा, राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना, राष्ट्रीय पोषाहार

मिशन, प्रजनन और बाल स्वास्थ्य, राष्ट्रीय प्रतिरोधीकरण कार्यक्रम का सशक्तिकरण और पोलियो उन्मूलन तथा बाल दत्तकग्रहण।

*समेकित बाल विकास योजना (आईसीडीएस) (महिला और बाल विकास मंत्रालय के अंतर्गत):* राज्यों को केंद्र से पूरी मदद आईसीडीएस के हर घटक की लागत के संदर्भ में मिली है सिर्फ पूरक पोषाहार के अलावा, जिसके लिए 2005-06 से उन्हें व्यय का करीब आधा हिस्सा सहयोग के रूप में दिया जा रहा है। बीएफसी के आवंटन में बढ़ोतरी तकरीबन पूरी तरह आईसीडीएस के आवंटन में बढ़ोतरी का नतीजा है।

*कामकाजी महिलाओं के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय पालना योजना (महिला और बाल विकास मंत्रालय के अंतर्गत):* इस योजना के लिए

2006-07 में (बजट अनुमान) 100 फीसदी आवंटन बढ़ाया गया था; आवंटन 2008-09 (बजट अनुमान) में गिर कर 96 करोड़ पर आ गया।

*प्रजनन और बाल स्वास्थ्य (स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत):* आरसीएच के लिए कुल आवंटन 2007-08 (बजट अनुमान) के मुकाबले 2008-09 में करीब 53 फीसदी बढ़ गया।

*राष्ट्रीय प्रतिरोधीकरण कार्यक्रम का सशक्तिकरण और पोलियो उन्मूलन (स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत):* कुल बाल स्वास्थ्य घटक का एक बड़ा हिस्सा इस योजना को जाता है। (औसतन इस योजना को 2005-06 से 2008-09 के बीच कुल प्रतिरोधीकरण बजट का 76 फीसदी गया)। हालांकि 2008-09 में पल्स पोलियो टीकाकरण के लिए आवंटन 2007-08 के 1289.38 करोड़ रुपये से गिर कर 1042 करोड़ पर आ गया।

*राष्ट्रीय पोषाहार मिशन (महिला और बाल विकास मंत्रालय के अंतर्गत):* 2005-06 के बजट अनुमानों के मुताबिक 0.03 करोड़ के आवंटन के बाद 2007-08 (बजट अनुमान) में काफी तीव्र वृद्धि हुई और यह 0.09 करोड़ पहुंच गया। यह आवंटन 2008 तक स्थिर है।

### सार्वजनिक वित्त प्रणाली में सुधार

आर्थिक सर्वेक्षण 2007-08 के

अनुसार एक ओर जहां सकल जीडीपी अनुपात, जो पिछले एक दशक से ज्यादा वक्त से 8-10 फीसदी के बीच ठहर गया था 2007-08 (बीई) में 11.4 फीसदी हो गया, वहीं अप्रत्यक्ष करों से आने वाली आय भी बढ़ कर जीडीपी के 5.4 फीसदी से बढ़ कर इसी अवधि में 6.08 फीसदी हो गई। मांग पर दबाव वाली अर्थव्यवस्था में (गरीब आबादी की ज्यादा संख्या के मद्देनजर) यह सार्वजनिक वित्त प्रणाली का एक प्रतिगामी स्वरूप है।

विभिन्न करों में रियायत के कारण भारी मात्रा में वित्तीय घाटा होता है। केंद्रीय करों में नुकसान अकेले 2007-08 के दौरान जीडीपी का 7.2 फीसदी था। इसमें से कुछ सामाजिक क्षेत्र के वित्तपोषण में जा सकता था, जैसे बाल सेवा और विकास।

### बाल देखभाल और विकास के तंत्र में सुधार

बाल देखभाल और विकास के तंत्र में सुधार के लिए निम्न प्रणालियां आवश्यक होंगी: (क) मातृत्व लाभ जिससे जच्चा और बच्चा शुरूआती छह महीनों के दौरान करीब रह सकें और दोनों को पर्याप्त सुविधा मिल सके; (ख) स्तनपान, आईवाईसीएफ, पोषण सलाह और परिवारों को सहयोग सेवाएं; (ग) समुदाय आधारित डे केयर सेवाएं और पालना; (घ) प्री-स्कूल केंद्र; (च) पूरक पोषण; (छ) स्वास्थ्य सेवा सुविधाएं - प्राथमिक तौर पर

समुदाय आधारित - संस्थागत सहयोग के साथ।

आईसीडीएस के लिए वर्तमान आवंटन प्रति बच्चा प्रतिदिन एक रुपया है (छह साल तक के सभी बच्चों के लिए औसत)। प्रभावी और सार्विक कार्यक्रमों को सुनिश्चित करने के लिए व्यय का यह स्तर पर बेहद अपर्याप्त है। अनुमान है कि देश में छह साल से नीचे के करीब 14 करोड़ बच्चे हैं जिनमें से दस करोड़ गांवों में रहते हैं और चार करोड़ शहरों में (इसमें भी एक करोड़ शहरी झुग्गियों में)। इस बात की छूट दी जानी चाहिए कि सभी माता-पिता शायद अपने बच्चों को स्थानीय आंगनवाड़ी में पंजीकृत न कराना चाहें। यह मानते हुए कि ग्रामीण क्षेत्रों और शहरी झुग्गियों में करीब 75 फीसदी बच्चों का पंजीकरण होता है, तो छह साल के नीचे के आठ करोड़ बच्चों के लिए बजटीय अनुमान हैं। इन आठ करोड़ बच्चों में 10 फीसदी यानी 0.8 करोड़ का प्रवेश आंगनवाड़ी सह पालना केन्द्रों में किया जाएगा।

इन अनुमानों के आधार पर इस काम के लिए प्रस्तावित योजना 33 हजार करोड़ रुपये की होगी (2006-07 की कीमतों पर), जिसमें सालाना 30 हजार करोड़ रुपये की 'नियमित लागत' आएगी। यदि भारतीय अर्थव्यवस्था 11वीं योजना के दौरान औसतन आठ फीसदी सालाना की दर से वृद्धि करती है, तो यह वित्तीय आवश्यकता आज से पांच साल

बाद भारत के जीडीपी के आधा फीसदी के आसपास आएगी।

शिशु मृत्यु दर को कम करने के लिए एकाधिक पूरक हस्तक्षेपों की जरूरत पड़ेगी। इनमें सुरक्षित पेयजल, बेहतर शौच सुविधाएं तथा खासकर लड़कियों व माताओं के लिए शिक्षा में सुधार शामिल होगा। इसके अलावा जागरूकता निर्माण कार्यक्रमों की भी जरूरत है क्योंकि शिशु मृत्यु और माता की साक्षरता के बीच एक मजबूत रिश्ता होता है।

### स्वास्थ्य सेवा और प्रतिरोधीकरण कार्यक्रमों को मजबूत बनाना

स्वास्थ्य चूंकि राज्यों का विषय है, लिहाजा इसके लिए वित्त प्राथमिक तौर पर राज्य सरकारों से ही आएगा। इस क्षेत्र में संसाधनों का आवंटन प्रत्येक राज्य की वित्तीय स्थिति पर निर्भर करता है। 2003-04 के दौरान स्वास्थ्य क्षेत्र के बजटीय आवंटन में 1985-86 के 7.02 फीसदी से गिरावट आई और यह 4.97 फीसदी रह गया। सभी राज्य द्वितीयक और तृतीयक स्तर के सरकारी अस्पतालों में उपयोग शुल्क लेते हैं जो कुल स्वास्थ्य बजट का दो से तीन फीसदी होता है।

समस्याएं और विवाद अनुदानों के निम्न उपयोग और अपर्याप्त कवरेज दोनों को लेकर हैं। 2003-04 के दौरान सबसे कम व्यय स्वास्थ्य क्षेत्र पर ही किया गया जो बच्चों के लिए बजटीय आवंटन का 22.41

फीसदी था। तकरीबन 22 फीसदी राशि जो विश्व बैंक समर्थित आईसीडीएस-2/जेएच/एपीईआर परियोजनाओं के लिए आई थी, उसका उपयोग नहीं हो पाया। साथ ही, 34 फीसदी राशि आईसीडीएस प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रोजेक्ट उडिशा के लिए आई थी जिसका इस्तेमाल नहीं हो पाया। अनुदान का उपयोग न हो पाने की समस्या केन्द्र और राज्य दोनों ही स्तरों पर जबरदस्त है। महाराष्ट्र सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए आवंटित राशि का 25 फीसदी भी खर्च नहीं कर पाया। एनआरएचएम के तहत केन्द्र ने 2007-08 में महाराष्ट्र को 671.14 करोड़ रुपये आवंटित किए थे जिसमें से सिर्फ 310.52 करोड़ ही जारी किए गए।

इसके अलावा वैकल्पिक स्वास्थ्य वित्तपोषण रणनीतियों पर भी स्लाइडिंग स्केल प्रणाली, सामुदायिक स्वास्थ्य वित्तपोषण और सामाजिक बीमा प्रणालियों के माध्यम से नजर डालने की जरूरत है ताकि उपचारात्मक सेवाओं तक पहुंच सुनिश्चित हो सके जिसमें जच्चा-बच्चा सेवाएं भी शामिल हों।

यदि भारत को 2010 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य और जनसंख्या नीतियों के लक्ष्य तथा 2015 में सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों को हासिल करने के प्रति वचनबद्ध रहना है, तो समष्टि अर्थशास्त्र और स्वास्थ्य पर राष्ट्रीय आयोग की 2005 में की गई सिफारिश पर ध्यान देना होगा जिसमें कहा गया था कि सार्वजनिक व्यय को जीडीपी के मौजूदा 1.3 फीसदी से अगले कुछ वर्षों में

बढ़ाकर 3 फीसदी कर दिया जाना चाहिए। सरकार को बजट में 5 गुना बढ़ोतरी करने की जरूरत होगी यानी 1160 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की दर से एक लाख करोड़ रुपये - यदि उसे बचाव, प्रचारात्मक और उपचारात्मक सेवाओं के समूचे पैकेज का इकलौता प्रदाता बनना है। द्वितीयक सेवा तक समतापूर्ण पहुंच सुनिश्चित करने और भारत की विविधता व असमानता के मद्देनजर परिवारों पर वित्तीय बोझ को कम करने के लिए काफी सतर्क तरीके से सामाजिक स्वास्थ्य बीमा, समुदाय आधारित स्वास्थ्य बीमा तथा सीमित रूप में बेहतर नियामित निजी स्वास्थ्य बीमा के सम्मिश्रण की सिफारिश की जाती है।

एक परिवार का स्वास्थ्य पर खर्च (प्रति व्यक्ति 85 रुपये के करीब) सरकारी खर्च से करीब 4 से 5 गुना होता है। स्वास्थ्य बीमा कवरेज अब भी दुर्लभ है और यह अल्प संख्या में ही लोगों को उपलब्ध है। अस्पताल में भर्ती कराना वित्तीय विनाश का कारण बनता है, खासकर तब जब जोखिम को पाटने वाली कोई प्रणाली मौजूद नहीं होती। भारत पर विश्व बैंक द्वारा 2001 में किए गए एक अध्ययन का निष्कर्ष है कि स्वास्थ्य पर किए गए छिटपुट चिकित्सीय खर्च (अनुमानित तौर पर जो कुल चिकित्सीय व्यय के 80 फीसदी से ज्यादा होते हैं) ही अकेले 2.2 फीसदी आबादी को हर साल गरीबी रेखा से नीचे धकेलने में सक्षम हैं। अध्ययनों में दिखाया है कि अधि

कतर घरों में कर्ज का तीसरा सबसे बड़ा कारण चिकित्सीय खर्च होता है। एनएसएसओ के 60वें दौर के मुताबिक 6 फीसदी आबादी ऐसी है जो उच्च लागत के कारण स्वास्थ्य सेवा प्रतिष्ठान तक नहीं जा सकी। इसलिए गरीबी के प्रसार में स्वास्थ्य सेवा उपभोग और लागत के योगदान के आकलन की जरूरत है तथा वैकल्पिक स्वास्थ्य वित्तपोषण प्रणालियों को देखा जाना चाहिए।

### निष्कर्ष

आम बजट सरकारी वित्त का एक समग्र ब्यौरा होता है जिसमें व्यय, राजस्व, घाटा और कर्ज आदि शामिल होते हैं। यह सरकार का प्रमुख आर्थिक दस्तावेज होता है जो

दिखाता है कि सरकार नीतिगत लक्ष्यों को पाने के लिए सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग किस तरह करना चाहती है। चूंकि, छह साल से कम उम्र की 15.2 फीसदी आबादी में से सिर्फ 1.03 फीसदी ही केन्द्रीय बजट से लाभान्वित हो पाती है, लिहाजा इस आबादी की शारीरिक और मानसिक स्थिति को सुधारने के लिए सार्वजनिक निवेश में पर्याप्त इजाफे की जरूरत है। यदि इस देश को मौजूदा दर पर अपनी आर्थिक वृद्धि को टिकाए रखना है, तो उसके लिए राजनैतिक इच्छाशक्ति की जरूरत होगी तथा बेहतर कल के लिए छह साल तक के बच्चों की कुशलता सुनिश्चित करने हेतु संसाधनों की वचनबद्धता निभानी होगी।